# हमारा जीवन सफल कैसे हो!

By

James Allen

जेम्स एलेन

By James Allen

The key for the success of life

# हमारा जीवन सफल कैसे हो

Hamâra Jivan Safal Kaise Ho.

by James Allen.

मूल लेखक

जेम्स एलेन

अनुवादक—

एक साहित्य प्रेमी

प्रकाशक

चौधरी एण्ड सन्स

पुस्तक विक्रेता तथा प्रकाशक

बनारस सिटी

| प्रथम | सन् | मूल्य |
| --- | --- | --- |
| संस्करण | १९३८ | १) |

प्रकाशक—
चौधरी एण्ड सन्स,
पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स,
बनारस सिटी।



मुद्रक—
मथुरा प्रसाद
जॉब-प्रेस
कर्णघण्टा,
बनारस।

# "उपोद्घात"

जिस समय मनुष्य एक अन्धकारमय कोठरी में प्रवेश करता है, उसे इस बात का कुछ भी पता नहीं चलता कि वह किधर जा रहा है। उसमें रक्खे हुये पदार्थों को न तो वह देख ही सकता है, और न उनके निश्चित स्थानों को बतला सकता है। यह भय सदैव लगा रहता है कि वह किसी अनजान वस्तु से ठोकर खाकर जख्मी न हो जाय। उसी स्थान में एक दीपक जला दीजिये, देखिये, बात की बात में सब अन्धकार दूर हो

जाता है, प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्थान पर चमकनेलगती है—और चोट खाने का कोई डर नहीं रह जाता।

अधिकांश लोगों के लिये जीवन इसीप्रकार की एक अन्धेरी कोठरी है। उन्हें जीवन के मूल सिद्धान्तों का पता नहीं, अचानक उनसे मुठभेड़ हो जाने पर वे चौकन्ने से हो जाते हैं—उनका सामना सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। फलतः निराशा, संभ्रम, चिन्ता और कष्ट आदि के आघात-प्रत्याघातों के शिकार सदैव हुआ करते हैं। परन्तु उसी कलुषित बुद्धि में ज्ञान पद्धति के प्रवेश करते ही, सब भ्रम दूर हो जाते हैं, सब आपत्तियाँ उड़ जाती हैं, प्रत्येक चीजें अपने असली रूप में अपने अपने स्थानों पर दृष्टिगोचर होने लगती हैं। तत्पश्चात् स्वच्छ बुद्धि के प्रकाश में मनुष्य निश्चिन्त होकर जीवन-पथ पर अग्रसर होता है। वह जीवन के सिद्धान्तों को समझ जाता है। उसे तब किसी वस्तु का भय नहीं रह जाता।

जेम्स ऐलेन

# पूर्ण शान्ति-प्रदर्शक प्रकाश

जो लोग सुख-शांतिमय सुन्दर जीवन की आकाँक्षा करते हैं—उन्हीं को आध्यात्मिक जागृति तथा प्रोत्साहन देने, दयालु तथा बलवान बनाने के लिये ही यह पुस्तक लिखी गयी है। इसकी सहायता से पाठक अपने आचरण को अपने आदर्श तक पहुँचा सकते हैं। जिस आनन्द जीवन का लोग केवल स्वप्न देखा करते हैं—उसी जीवन को पाठकगण यहीं थोड़े समय के प्रयत्न से लब्ध कर सकते हैं। हमारा जीवन, हमारे

विचारों तथा कार्यों का फल है । हम सुखी हैं या दुःखी, बलवान हैं या निर्बल, पापी हैं या पवित्र, मूर्ख हैं या बुद्धिमान्—ये सब बातें हमारी दशा तथा हमारे दृष्टिकोण द्वारा निर्धारित की जाती हैं । यदि कोई दुखी है, तो चित्त की दुःखमय स्थिति केवल उसी के चित्त का विकार है, इसकी सीमा उसके चित्त ही में परिवद्ध है। ऐसी स्थिति अधिकतर अनिष्ट घटनाओं के घटित होने पर पैदा हुआ करती है—परन्तु इससे यह अर्थ न निकालना चाहिये कि वे घटनाएँ उसके दुःख का कारण हैं। मनुष्य अपनी दुःखमय चित्त की स्थिति का उत्तरदायी स्वयं हैं । यदि किसी की सङ्कल्प-शक्ति निर्बल है, तो इसका कारण यह है कि उसने अपनी विचारधारा तथा अपने कार्यों द्वारा अपने को उस दुर्गण का दास बनाया है और भविष्य में भी बनाना चाहता है । उसीतरह मनुष्य पापमय कर्मों के करने से अपने को पापी बनाता है और मूर्खतापूर्ण कर्मों में लगने से मूर्ख।

मनुष्य का आचरण, आत्मा तथा जीवन, उसके

विचार और कर्म से विलग नहीं। वह तो केवल अपने विचारों और कर्मों का प्रतिरूप है। उसका परिवर्तन उन्हीं पर निर्भर रहता है। अपनी इच्छा शक्ति द्वारा वह अपने को जैसा चाहे बना सकता है। जैसे बढ़ई काठ के भद्दे टुकड़े को सुन्दर रूप दे देता है उसीप्रकार मूर्ख और पापी, अपने को बुद्धिमान और सत्य का प्रेमी बना सकता है।

प्रत्येक मनुष्य, अपने नित्य के विचारों, कार्यों, चित्त की स्थिति तथा अपने जीवन का स्वयं उत्तर-दायी है। कोई शक्ति, कोई घटना और कोई परिस्थिति मनुष्य को पाप तथा दुःख की ओर प्रेरित नहीं कर सकती। वह स्वयं अपना प्रेरक है। वह अपनी इच्छा-नुकूल विचार और कर्म करता है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना भी बुद्धिमान और महान् क्यों न हो—सर्वशक्तिमान् परमात्मा भी उसे अच्छा या बुरा नहीं बना सकता। उसे स्वयं ही सुन्दरता की खोज कर सुखी होना होगा—

केवल इसी कारण से—कि मनुष्य इच्छा करते

ही सत्यता और सुन्दरता को पाकर उनके आनन्द तथा शान्ति का उपभोग कर सकता है—सत्य के प्रेमियों में अनन्त प्रसन्नता और पूर्ण शान्ति के पुजारियों में पवित्र आनन्द छाया रहता है।

स्वर्ग-द्वार सदैव खुला रहता है। किसी के लिये रुकावट नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा से उसमें प्रवेश कर सकता है। परन्तु नर्क के प्रलोभनों में लिप्त तथा पाप और दुःख के आश्रय में रहने वाला व्यक्ति स्वर्गपुरी में प्रवेश नहीं कर पाता।

पाप तथा दुःखमय जीवन के अतिरिक्त जिसमें कि आज तमाम संसार डूबा हुआ है—एक दूसरा जीवन है; जो बहुत उच्च, उदार और दैवी है। यह जीवन, पाप तथा दुराचार के पहुँच के बाहर है। यह ज्ञानपूर्ण तथा आनन्दमय है। इसमें दया, शांति और पुण्य आदि सद्गुणों का बोलबाला रहता है।। मनुष्य चाहे तो ऐसे जीवन की खोजकर उसमें वास कर सकता है। ऐसा जीवन व्यतीत करनेवाला परिवर्तनों के मध्य में स्थिर, अशान्तों के मध्य में शान्त, और कलहमय होने पर भी

अक्षुब्ध रहता है। मौत का सामना होने पर भी वह घबड़ाता नहीं। सताये जाने पर भी उसे कटुता छूती तक नहीं। उसका हृदय दया तथा प्रसन्नता से ओत-प्रोत रहता है। इसप्रकार के उच्च कोटि के सुन्दर जीवन में दुराचार, पाप और चिन्ता आदि दुर्गुणों के लिये स्थान नहीं रहता। हृदय में वेदना और व्याकुलता का स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता।

यह विजयी-जीवन उन लोगों के लिये नहीं जो जीवन की तुच्छ अवस्थाओं पर ही सन्तोष कर लेते हैं। यह केवल उन्हीं के निमित्त है, जो इसकी आकाँक्षा करके इसको पाने का प्रयत्न करते हैं। उनके लिये न्याय उतना ही प्रिय है जितना लोभी के लिये सोना। यह सदैव ही निकट रहता है। सब को अर्पित किया जाता है। वे लोग धन्य हैं जो इसे ग्रहण करके इसे गले लगाते हैं। वे ही लोग सत्य-लोक में प्रवेश करेंगे। उन्हीं को पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी।

# कल्पनाओं और तथ्यों पर प्रकाश

आजकल विचारों और उनके प्रकाशन की स्वतंत्रता निस्सीमित है। इसी कारण वाद-विवाद और भेद-भाव भी बहुत बढ़ गया है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि विवादग्रस्त भ्रमों से ही जीवन के सारे तथ्यों का दर्शन होता है। उन तथ्यों की अनन्त एकरुपता तथा स्वैकता हमें आकर्षित कर लेती है। उनकी अदृश्य सादगी और सत्यता हमारे दिल में अकस्मात् ही स्थान कर लेती है।

हमलोग स्वतंत्रता तथा मानसिक कलह के युग

में वास कर रहे हैं। धार्मिक सम्प्रदायों की इतनी बहुत्संख्या कभी भी नहीं थी। दार्शनिक, गुह्य तथा अन्य प्रकार के सम्प्रदायों की मुठभेड़ है। प्रत्येक सम्प्रदाय इस प्रयत्न में है कि संसार के विषयमें उसकी ही व्याख्या सर्वोपयोगी होकर सदैव के लिये अटल हो जाय। इस समय संसार का मानसिक जगत क्षुब्ध है। विरोध तथा प्रतिवाद उनकी सीमा तक पहुँच गया है, फलतः सत्य का सच्चा पुजारी अपने विरोधी मतों में कोई स्थिर विश्रामस्थल नहीं पा सकता। उसे अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ता है। उसे अपने ही जीवन के अविरोधी तथा अभिन्न तथ्यों का सहारा ढूढ़ना पड़ता है। वाद-विवाद की दीवारें सच्चे तत्त्वों की नहीं; किंच कल्पनाओं के चारो ओर खड़ी की जाती हैं। तत्त्व, स्थिर और सुनिश्चित होता है। कल्पना अस्थिर और नष्टशील है। उन्नति की वर्तमान अवस्था में मनुष्य केवल तत्त्वों की सुन्दर सादगी को ही नहीं; किन्तु अपनी सुलभ सन्तोष-शक्ति को भी भूल चुका है। वह सत्य की स्वाभाविक सुन्दरता को नहीं देखता—सत्य के सच्चे स्वरूप को वह

व्यर्थ कल्पनाओं से आच्छादित करना चाहता है। यही कारण है कि जब कोई तथ्य सामने आता है, तो पहला प्रश्न यही उठता है कि इस तथ्य की व्याख्या कैसे की जाय ?' तब कल्पनाओं की बौछार उड़ने लगती है। एक कल्पना दूसरी कल्पना का कारण बनती जाती है। यहाँ तक की तथ्य का सच्चा स्वरूप कल्पनामय होकर लुप्त-सा हो जाता है। इसप्रकार विभिन्न सम्प्रदाय और विरोधी मतों की स्थापना होती है।

किसी तथ्य का स्वच्छ दर्शन दूसरे तथ्यों को दिखला देता है। कल्पना देखने में तो विषय का स्पष्टी-करण करती है, परन्तु वास्तव में विषय के सच्चे स्वरूप का लोप कर देती है। सुन्दर कल्पनाओं की आकर्षक और अलंकृत क्रीड़ा कर करके हम सत्य की महत्त्वपूर्ण झलक नहीं पा सकते। सत्यता और तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं, अतएव तर्क न तो इसे बढ़ा सकता है और न सुन्दर ही बना सकता है। कल्पना और सत्य सदैव से विलग रहे हैं। निपुणातिनिपुण मानसिक इन्द्रजाल, चाहे अतिचतुर मनुष्य को धोके में डालकर

अपने वश में कर ले, परन्तु सत्य में लेशमात्र भी, न तो कोई परिवर्तन कर सकता है औ न उसे किसी प्रकार से प्रभावित ही। यही कारण है कि सच्चे शिक्षक कल्पना के व्यभिचारपूर्ण मार्ग की तरफ दृष्टि भी नहीं करते। वे कल्पना-जाल के सन्नुब्ध विषयों में, अन्य कल्पनाओं का आरोप करके लोगों को व्यर्थ भ्रम तथा वाक्-युद्ध में नहीं डालते। वे तो जीवन के सुन्दर, सादे तथ्यों को समक्ष रखकर मनुष्यमात्र का ध्यान उसी पर आकर्षित करते हैं।

जीवन-तथ्य तो सदैव हमारे समक्ष है। यदि हम अहंकार-जन्य मूर्खतापूर्ण भ्रामों तथा अहममन्यता का त्याग कर दें तो वे तथ्य बुद्धिग्राह्य होकर हमारे पास आ जायँ। मनुष्य को ज्ञानकी खोज में आत्मा के अतिरिक्त कहीं न जाना चाहिये। आत्म-ज्ञान के आधार पर ऐसा सुन्दर और विशाल ज्ञानमय मन्दिर खड़ा किया जा सकता है, जो मनुष्य के मोक्ष और महानता का कारण होगा।

मनुष्य की सत्ता है और वह अपने विचारों का

फल है। ये दोनों तथ्य जब भलीभाँति हृदयंगम कर लिये जाते हैं, तब मनुष्य के मस्तिष्क में एक ऐसे ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे उसे पूर्ण शान्ति और विज्ञान का दर्शन होता है। अन्य कारणों में से मनुष्य की अज्ञानता का एक यह भी कारण है कि वह अपने से भिन्न एक अन्य आत्मा के विषय में नाना प्रकार की अनन्त कल्पनायें किया करता है। इसप्रकार वह अपने ज्ञान को असली स्वरूप से विलग रखता है। अन्य आत्मा की कल्पना ही मनुष्य के नेत्रों पर परदा डाल देती है। फलतः वह अपने को भूल जाता है। उसे अपने स्वभाव का पता नहीं चलता। अपनी विचार-धाराओं को समझ नहीं पाता। इन्हीं कारणों से उसकी वैयक्तिक चैतन्यता जाती रहती है।

मनुष्य का जीवन और उसके विचार वास्तविक हैं। उनकी सत्ता है। सत् वस्तुओं के अन्वेषण में व्यस्त होना ज्ञान-मार्ग पर अग्रसर होना है। मनुष्य के मन और विचारों से विलग होने पर केवल कल्पनामात्र रह जाती है—उसकी वास्तविकता जाती रहती है।

असत् वस्तुओं का अन्वेषण करना मूर्खता की खोज करना है।

मनुष्य अपने मन से विलग नहीं किया जा सकता। वह मनोमय है। उसके विचारों के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध है। जिसप्रकार से प्रकाश, आभा और उनके रङ्ग एक दूसरे से विलग नहीं किये जा सकते; उसी प्रकार मन, विचार और जीवन भी एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। वे अपना प्रकाशन स्वयं करते हैं। तथ्यों को दूसरे वाह्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं। वे सर्वसम्पन्न हैं। उनके प्रकाशनार्थ जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है—वह ज्ञान उन्हीं में निहित है।

मनोमय मनुष्य परिवर्तनशील है। वह किसी ऐसी वस्तु की तरह नहीं, जो एकही बार में पूर्णतया बना दी जाती है। मनुष्य के अन्दर उन्नतिशीलता निहित है। सर्वव्यापी विकासवाद के नियमानुकूल, उसकी वर्तमान अवस्था उसके पिछले प्रयत्नों का फल है, और उसका विकसित रूप उसके आगामी अवस्था का द्योतक है।

उसके प्रत्येक विचार उसमें परिवर्तन लाते रहते हैं।

प्रत्येक अनुभव उसके आचरण को परिवर्तित करते रहते हैं। उसका मानसिक जगत् उसके प्रत्येक प्रयत्न से विकृत होता रहता है। मनुष्य के पतन की कुंजी यहीं पर मिलती है। और यदि मनुष्य इस विकारमय नियम को प्रयोग बुद्धिमत्ता से करे, तो उसके मोक्ष और वैभव का रहस्य भी इसी में छिपा है।

✔ विचार करना और कर्म करना ही जीवन है। परंच विचारने और कार्य करने में अन्तर है। जबतक मनुष्य विचारधारा के सच्चे स्वरूप को नहीं पहिचानता तबतक उसकी विकृति उभय-मुखी होती है—वह अच्छाई की तरफ भी झुकता है और बुराई की ओर भी। परन्तु जैसे ही वह विचारधाराओं के वास्तविक रूप से परिचय कर लेता है—उसके सब भ्रम दूर हो जाते हैं। वह बड़े वेग से विचारों को सुपथ की ओर प्रेरित करता है।

मनुष्य के विचारों की दूसरी संज्ञा ही मनुष्य है। उसके विचारों में और उसमें लेश-मात्र भी अन्तर नहीं। विचारों की अधिकता और न्यूनता से फल में परिवर्तन हो

जाते हैं। परन्तु गणित का मौलिक नियम स्थिर है। मनुष्य मनोमय है।

मन विचारमय है, विचार परिवर्तनशील है। इन सब का स्वाभाविक फल यह हुआ कि विचारों के परिवर्तन से मनुष्य स्वयं परिवर्तित हो जाता है।

मनुष्य को शुद्ध तथा उच्च मार्ग पर प्रेरित करने के लिये ही सब धर्म, उसके हृदय के विचारों को ही प्रभावित करते हैं। इसमें अशंतः अथवा पूर्णतः सफलता प्राप्त करना ही 'मोक्ष' कहलाता है। या यों कहिये कि मनुष्य एक प्रकार के विचार और दशा से मुक्त होकर किसी दूसरे प्रकार की दशा तथा विचार को अपनाता है। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल के धर्मप्रचारक रहस्य को भूल बैठे हैं। इसका कारण है काल्पनिक पर्दा, जो तथ्यों को ज्ञान से विलग किये हुये है। परन्तु फिर भी वे लोग मनुष्य के विचारों को शुद्ध बनाने का ही प्रयत्न करते हैं। बड़े-बड़े धर्म-संस्थापकों के सिद्धान्त यह प्रकट करते हैं, कि उनके धर्मों का मौलिक ध्येय यही था। क्या आप जानते हैं कि बड़े-बड़े महात्माओं ने किन-किन

बातों की तरफ लोगों का चित्त विशेषरूप से आकर्षित करना चाहा है ? किन-किन बातों को, वे लोगों के कर्ण-कुहरों में बार-बार ठूसना चाहते थे ? वे बातें थीं ; हृदय को शुद्ध करना, पवित्र विचारों पर मनन करना, श्रेष्ठ कार्यों को अपनाना। ये सब क्या हैं ? क्या यह सब यह नहीं सूचित करते कि उनका मुख्य ध्येय लोगों को उदात्त तथा उच्च विचारों की तरफ झुकाना था ! वे लोग हमें उन प्रभावशाली शक्तियों की ओर ले जाना चाहते हैं, जो मनुष्यों को ऐसी विचारधाराओं की तरफ प्रेरित करती हैं ; जिनकी सहायता से मनुष्य शक्तिमय, त्यागमय और आनन्दमय हो जाता है ।

उच्च आकांक्षा, ध्यान और भक्ति—यही तीनों सब-समय में सदाचारियों के कर्णधार रहे हैं। इन्हीं की सहायता से लोग उदार-चित्त, शान्ति-प्रिय और परम ज्ञानी हुये हैं । इसका कारण स्पष्ट है ; 'मनुष्य अपने विचारों का फल है।' इसी प्रकार से ही मनुष्य अपने स्वाभाविक शत्रुओं—दुःख और मूर्खतापूर्ण कार्यों से छुट्टी पाता है। क्षुद्र तथा तुच्छ विचारों के स्थान में उदात्त

भावों को अपनाकर नव-जीवन प्राप्त कर पाता है।

मनुष्य महात्मा ईसा हो सकता है ? कैसे ? दंभ से नहीं ; किंच भागीरथ प्रयत्न से, आन्तरिक आत्मशक्ति का अनुभव करके— क्राइष्ट की तरह अपने विचारों को बनाने से। बुद्धमत के धार्मिक लेखों में एक उदाहरण मिलता है जो उपरोक्त कथन को पुष्ट करता है। कहते हैं कि किसी मूर्ख और अपवित्र आदमी ने एक बार महात्मा बुद्ध से यह प्रश्न किया कि मनुष्य कैसे परम ज्ञानी और महात्मा हो सकता है। इसके उत्तर में बुद्ध भगवान ने कहा 'वासना-रहित होने से' ! फिर क्या था उसने अपनी सब वासनाओं का त्याग 'तत्क्षण कर दिया। फलतः वह परम ज्ञानी और महात्मा हो गया। एक दूसरे स्थान पर भगवान बुद्ध कहते हैं कि "यदि ज्ञानियों के पास कोई चमत्कार है तो यही कि वे क्षुद्र लोगों को भी ऋषी के रूप में परिणत कर देते हैं।' इमर्सन ( Emerson ) नामक ( एक अंग्रेज-तत्त्ववेत्ता ) विचार-परिवर्तन के इसी क्रान्तिकारी शक्ति की ओर इशारा करते हुये लिखता है"—महान होना उतना

ही सरल है जितना नीच बनना। यह कहावत उसकी निम्नलिखित अन्य कहावत से मिलती-जुलती है—जिसे लोग बारम्बार बिना अच्छी तरह समझे उद्धृत किया करते हैं।

'अतएव आपलोग स्वर्गस्थित अपने पिता की भाँति सर्वगुण सम्पन्न बनिये।'

और अन्ततः एक महान् और एक क्षुद्र मनुष्य में मौलिक अन्तर ही क्या है ? वह तो केवल 'विचार' और 'दृष्टिकोण' सम्बन्धी अन्तर है—निस्सन्देह दोनों के ज्ञान में आकाश-पाताल का अन्तर है, परन्तु फिर भी ज्ञान, विचार से विलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक क्षुद्र विचार के स्थान से उदात्त विचार को अपनाकर ही, मनुष्य ज्ञान-मार्ग की ओर बढ़ता है। मनुष्य वर्ग में—छोटे-से-छोटे मनुष्य से लेकर उच्चतम मनुष्य तक—विचार ही सब लोगों के आचरण, दशा और ज्ञान का निर्णायक होता है।

अधिकाँश लोग विकास-पथ पर शनैः शनैः अग्रसर होते हैं। वे स्वावलम्बी नहीं होते। वाह्य विषयों से उत्तेजित प्रबल विचारों की अन्ध-प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित किये

जाते हैं। परन्तु सच्चे और ज्ञानी आदमी अन्ध प्रवृत्तियों के दास नहीं होते। उनका मार्ग निर्धारित रहता है। वे तो अपने ही निर्धारित-पथ पर वेग से बुद्धिमत्ता के साथ प्रयाण करते हैं। आत्मज्ञान-शून्य असंख्य मनुष्य अपने विचारों के वश में रहते हैं। परन्तु आत्मज्ञानी के विचार उसके वश में होते हैं। अज्ञानी बिना समझे-बूझे अपने विचारों का अनुसरण करता है, किन्तु ज्ञानी अपने बल-बुद्धि से केवल अच्छे विचारों को ही अपनाता है। अज्ञानी अपने क्षणिक सुख और आनन्द के लिये अपनी प्रत्येक वासना का दास होता रहता है—परन्तु ज्ञानी अपनी दृष्टि को केवल श्रेय वस्तु पर स्थित करके क्षुद्र वासनाओं को ठुकराता रहता है। अज्ञानी वासना-प्रिय होने से प्रत्येक क्षण न्याय-पथ से भ्रष्ट होता रहता है; ज्ञानी आत्म-संयमी होने से न्याय-पथ पर दृढ़ रहता है। वह जीवन की समस्याओं का सामना निर्भीकता के साथ करता है। वह प्रत्येक विचारों के असली रूप को पहिचानता है। वह आत्मा की प्रेरणाओं को समझकर उन्हीं के अनुसार

आचरणकरता है।

परन्तु वासनाओं से ऊबा हुआ व्यक्ति भी अपनी इच्छानुसार अपनी ज्ञान-चक्षु को खोलकर वस्तुओं के सच्चे स्वरूप का निरीक्षण कर सकता है। ज्ञानी—बुद्धिमान, प्रभावशाली और शान्त होता है। मूर्ख-भ्रमपूर्ण, अन्धा तथा अव्यवस्थित रहता है! परन्तु दोनों का वास्तविक रूप एक ही है। उनमें अन्तर करने वाली केवल उनकी विचारधारायें हैं। मूर्ख मनुष्य जैसे ही अपने अज्ञानमय विचारों से मुख मोड़कर उदात्त विचारों को अपना लेता है—वह बात की बात में एक ज्ञानी हो जाता है।

सुकरात के मतानुसार सत्कर्म और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं। इस विचार से सभी ज्ञानी सहमत हैं। शिक्षा ज्ञान की सङ्गिनी तथा सहायिका हो सकती है—परन्तु ज्ञान का कारण कदापि नहीं। केवल गम्भीर विचारों को अपनाने और सत्कर्मों को करने से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। कोई पाठशालाओं में विद्वान होते हुए भी जीवन-क्षेत्र में मूर्ख हो सकता है। शब्दों

को कण्ठस्थ करने से नहीं, किन्तु आदर्श विचारों में स्थिर होने ही से मनुष्य शान्ति-मय उच्चज्ञान का दर्शन पाता है।

मूढ़ता और विज्ञान, अज्ञानता और ज्ञान-प्रकाश इन सब की उत्पत्ति विचारों से नहीं होती; कि उनमें और विचरों में कोई अन्तर ही नहीं है। कारण और फल-दोनों विचार ही में अन्तर्हित रहते हैं।

"हमारी वर्तमान अवस्था केवल हमारे पिछले विचारों का फल है। यह हमारे विचारों पर अवलम्बित है, और उन्हीं से बनी भी है"।

"मनुष्य के पास आत्मा है" यह कथन उचित नहीं। क्योंकि मनुष्य और आत्मा एकरूप हैं। वह स्वयं ही कर्ता, मीमाँसक और ज्ञानी है। उसके स्वभाव और वह अभिन्न है। उसका आध्यात्मिक स्वभाव उसके मानसिक जगत् से घिरा हुआ है। यह वही है जो इच्छा करता है और चिन्तित होता है, उपभोग करता है और दुःखी होता है, प्यार करता है और घृणा करता है। मन आत्मा के लिये एक साधन नहीं है, किन्तु मन ही

आत्मा है, मन ही असली सत्ता है, मन ही मन कोई मनुष्य अपने को पा सकता है। वह अपने सच्चे स्वरूप का दर्शन कर सकता है। परन्तु कब ? यह तभी सम्भव होगा जब वह भ्रमपूर्ण कल्पनामय जगत् को त्याग दे और जीवन के वास्तिविक रूप का दर्शन करे। अपरञ्च वह अपने आदर्श के चित्र की रचना अपने मन में स्थापित कर रखता है। अपने ही अन्दर नवीन मीमाँसक और नवीन मनुष्य रख सकता है। क्योंकि प्रत्येक क्षण वरण करने का समय और प्रत्येक घड़ी भाग्य-निर्णायक है।

# मनुष्य जीवन में कार्य और परिणाम का नियम

खेद है! कि मनुष्य बारम्बार इश्वरीय 'नियम' का निर्दयता के साथ अवहेलना किया करता है। उनके लिये इश्वरीय नियम निष्ठुर अत्याचार का प्रतिरूप है। इसका कारण यह है कि एक तो वे सिद्धान्तों को मनुष्य से विलग करके देख नहीं सकते और दूसरे उनके लिये 'नियम केवल दण्ड ही का साधन है। इसी दृष्टिकोण से देखने पर 'नियम' एक भ्रमात्मक और अनिश्चित प्राणी मालूम होता है, जिसका कार्य

दुराचारियों का शिकार करके उन्हें कठोर दण्डों से कुचलना है।

ध्यान रखिये ? यद्यपि यह दुष्टों का दमन करता है परन्तु इसका मुख्य कर्तव्य रक्षा करना है। जो नियम मनुष्य स्वयं बनाते हैं—उनका कार्य भी केवल नीच वासनाओं से हमारी रक्षा करना है। देश के विधान का ध्येय भी हमारे जान माल की रक्षा करना है। उच्छृंखल लोग ही इसे कठोर समझते हैं और इससे डरते हैं। किन्तु धार्मिकों के लिये तो यह स्थायी संरक्षक और मित्र है। उनके लिये यह भयावह नहीं होता।

ठीक यही बात दैवी विधान के विषय में भी कही जा सकती है। यह अखिल-विश्व का आधार है। अखिल-ब्रह्माण्ड का हृदय और जीवन-सार है। यही संसार को रक्षित और धारण किये है। इसके दण्डों द्वारा विश्व की उतनी ही रक्षा होती है, जितनी इसके शान्तिमय आशीर्वादों से। वास्तव में यह सदैव हमारी रक्षा में तत्पर है। और प्रत्येक मनुष्य

चाहे वह मूर्ख हो या दुराग्रही—कुकर्मों को निष्फल बनाकर उसके अन्तर्हित वासनारूपी शत्रुओं से उसकी रक्षा करता है।

ईश्वरीय-नियम एकदेशीय नहीं हो सकता। यह तो एक अटल कार्य-पद्धति है—जिसके अनादर से हम दुःखी और जिसके अनुसरण से सुखी होते हैं। न तो विरोध और न प्रार्थना इसे विचलित कर सकती है। क्योंकि यदि यह विचलित अथवा नष्ट किया जा सकता, तो विश्व का प्रलय और अराजकता का साम्राज्य हो जाय।

कुकर्मों के लिये दण्ड पाना उतना ही कल्याणमय है, जितना सुकर्मों के लिये सुख पाना। यदि हम अपनी मूर्खता और अपने पाप के लिये दण्ड न पावें तो हम सुरक्षित भी नहीं रह सकते। हम उच्छृंखल हो जाँय। और उस समय हम अपने शुभ तथा ज्ञानमय कर्म के फलों से भी हाथ धो बैठेंगे। तब नृशंसता का सामाज्य फैल जायगा। वास्तव में ईश्वरीय 'नियम' न्याय और दया की पद्धति है।

निसन्देह, श्रेष्ठ नियम तो अनन्त दया की निधि है। इसका कार्य अविचल और उपभोग अपरिमित है। यह वही अनन्त प्रेम है जो सदैव पूर्ण रहता है और सर्वकाल में अवाधितरूप से प्रवाहित होता रहता है।" क्रिश्चियन इसी का गान किया करते हैं। बुद्ध धर्म के सिद्धान्तों में इसी को "अपरिमित दया" की संज्ञा दी गयी है। जो नियम हमें दण्ड देता है, वही हमारी रक्षा भी करता है।

जब मनुष्य अज्ञानता से अपना पतन करना चाहता है, तब वह अपना प्रेम-प्रेरित कर—जो हमें दुःखद प्रतीत होता है—रक्षार्थ बढ़ा देता है। हमारे प्रत्येक दुःख हमें दैवी-प्रकाश की ओर अग्रसर करते हैं। हमारे प्रत्येक सुख ईश्वरीय नियम की महत्ता का गुण गान करते हैं और हमें बताते हैं कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हम कितने उच्चतम आनन्द के उत्तराधिकारी होंगे। अनुभव ही उन्नति की सीढ़ी है। कुछ अंश तक दुःख ही हमारे अनुभव का कारण होता है। जिस समय हमारा हृदय प्रेम से द्रवीभूत हो जाता है—उस समय इसके प्रत्येक

आश्चर्यजनक मंगल-कार्य में प्रेम ही का व्यवहार दिखाई पड़ता है। ज्ञान-प्राप्त करते ही शान्ति की प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

वस्तुओं के सर्वश्रेष्ठ नियम-क्रम में हम कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। परन्तु उस श्रेष्ठ को भलीभाँति बुद्धि-गम्य करने के लिये और उसकी आभा से प्रभावित होने के लिये हम अपने को मोड़ सकते हैं। उच्चकोटि के वस्तु का ह्रास करना महामूर्खता है। किन्तु तुच्छ वस्तु को उच्च आदर्श तक पहुँचा देना ज्ञान की चरम सीमा है। विश्व-ब्रह्माण्ड के दिखलाई देने वाली वस्तुओं के रचनाक्रम पर जो शंकित नहीं होते, वे संसार को सब तरह से पूर्ण पाते हैं। उनके लिये यह, असम्बद्ध वस्तु-खण्डों का एक ढेर नहीं है। वे सर्वत्र स्थायी आनन्द और दैवी शान्ति ही का दर्शन करते हैं।

अपवित्र वासनाओं में फँसा हुआ मूर्ख वन्दी, भले ही चिल्लाया करे "ऐ प्रेमी, कितना सुन्दर होता, यदि हम और तुम विश्वकर्त्ता से मिलकर कूट-नीति का प्रयोग कर सकते और वस्तुओं के दुःखद रचना-क्रम को

खंडित करके अपनी इच्छानुसार उनकी रचना फिर से करते।' इस प्रकार इच्छा रहती है भोग-लम्पटों की जो निन्दित भोग-विलासों से अपनी तृप्ति करके उसके स्वाभाविक दुःखद परिणामों से बचना चाहते हैं। ऐसे ही लोग संसार की 'वस्तुओं को दुःखदायी रचना के रूप में देखा करते हैं। वे संसार को अपनी वासना-तृप्ति के लिये एक साधन-मात्र बनाना चाहते हैं। उन्हें उच्छृंखलता प्रिय है, नियम नहीं। किन्तु ज्ञानी अपनी इच्छा और वांछना को ईश्वरीय-नियम की ओर झुकाता है। वह भूखंड के अपार विस्तार को प्रकाशमय-पूर्णता के रूप में देखता है।

बुद्ध भगवान विश्व के 'नैतिक-नियम'' को सदैव 'कल्याण-मय' कहा करते थे। और वास्तव में यदि कोई इसे किसी दूसरे दृष्टिकोण से देखता है तो ठीक नहीं करता। क्योंकि उससे पाप का तथा निर्दयता का लेश-मात्र भी होना असम्भव है। निर्बलों को कुचलने वाला और मूर्खों का नाश करने वाला यह वज्रवत-हृदय का कोई दानव नहीं, पर यह तो लालन-पालन करने

वाला प्रेम है—दया का स्रोत है। वह निर्बल से निर्बल लोगों को भी चोट नहीं लगने देता। बलवान से बलवान लोगों की रक्षा, उनके बल के विनाशकारी प्रयोग से किया करता है। यह तो सब बुराइयों का नाशक और सब अच्छाइयों का रक्षक है। नन्हें-से-नन्हें बीज को बड़े बचाव के साथ प्रस्फुटित करता है और श्वांसमात्र से ही घोर-से-घोर अपराध को मिट्टी में मिला देता है। इसे देखना स्वर्ग-दर्शन है। इसे जान लेना समाधि-सुख है। इसको देखने वाले और इसे जानने वाले परम शान्ति को प्राप्त कर सदैव आनन्द ही लूटा करते हैं।

यह न्याय-धर्म है, जिसे कोई विचलित नहीं कर सकता। प्रेम उसका हृदय है। शान्ति और सुन्दर आदर्श इसका ध्येय है। इसका अनुसरण करो।

# भौतिक तथा आध्यात्मिक गरिमा

यह पुरानी कहावत है कि 'प्रत्येक वस्तु मूल्यवान है।' व्यवसायिक रूप से तो इसे सभी लोग जानते हैं, परन्तु अध्यात्मिक रूप से विरले ही लोग। यथार्थ मूल्य के पारस्परिक लेन-देन को ही व्यसाय कहते हैं। ग्राहक पैसा देकर वस्तु लेता है और विक्रेता वस्तु देकर पैसा। यह नियम विश्व-व्यापी है और सर्वत्र न्याय समझा जाता है। आध्यात्मिक चीजों के विषय में नियम तो यही है, किन्तु उनका विनिमय-प्रकार कुछ दूसरे ढंग

का है। भौतिक वस्तु के बदले में भौतिक वस्तु दी जाती है। किन्तु आध्यात्मिक वस्तु के लिए आध्यात्मिक वस्तु नहीं। इन दोनों प्रकार के लेनदेन में हम स्थान विपर्यय नहीं कर सकते। इनका स्वभाव बिल्कुल एक दूसरे से प्रतिकूल है। और वे सदैव एक दूसरे से अलग रहते हैं। कोई मनुष्य अपनी मुद्रा लेकर किसी दूकान से इच्छानुसार भोजन वस्त्र और साहित्यिक पुस्तक खरीद सकता है—इन वस्तुओं को वह उचित मूल्य देने से सरलतापूर्वक पा जायगा। परन्तु यदि कोई मुद्रा लेकर किसी ज्ञानी के पास जाय और यह प्रार्थना करे कि इसी दाम पर उसे धर्म, न्याय और विज्ञान चाहिये, तो उसे निराश होना पड़ेगा। उसे पता मिलेगा कि भौतिक मूल्य देने से ये चीजें नहीं मिल सकतीं—उनका आध्यात्मिक स्वरूप उन्हें भौतिक व्यवसाय से विलग रखता है। किन्तु यह लेखक उस पाठक से कहेगा कि मनुष्य के लिये आध्यात्मिक गुणों का क्रय करना परम आवश्यक है, आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है। यद्यपि रुपये पैसे के मूल्य पर ये नहीं बिक

सकतीं, फिर भी वे मूल्यवान हैं। बिना कुछ त्याग किये उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थात् उनके लिये रुपये की जगह पर स्वार्थत्याग-रूपी मूल्य देना होगा। जितनी मात्रा में स्वार्थत्याग करोगे, उतनी ही मात्रा में यथार्थरूप से धर्म, न्याय और ज्ञान की प्राप्ति बिना कहे उसी समय होगी। क्योंकि जब भोजन, वस्त्र आदि संसारिक नाशवान चीजों का मिलना रुपये-पैसे देने से निश्चित रहता है, तब पर-स्वार्थपरता को छोड़ देने पर आध्यात्मिक पोषण तथा रक्षण कितनी शीघ्रता से निर्विघ्नता के साथ प्राप्त हो सकता है? क्या यह सम्भव है कि नियम तुच्छ स्थल पर सफल और उच्च-स्थल पर निष्फल हो जायगा? मनुष्य ईश्वरीय नियम को पहिचानने में असमर्थ हो सकता है किन्तु नियम तो अविचल है।

कोई मनुष्य द्रव्य का मोह भले ही करे। किन्तु जीवन की भौतिक सुख-सामाग्रियों के लिये उसे उनका त्याग करना ही होगा। उसी प्रकार से कोई अपने स्वार्थपूर्ण आनन्दों का दास भले ही हो, परन्तु बिना उनका

त्याग किये वह धर्म के आध्यात्मिक सुख का भागी नहीं हो सकता।

जब कोई व्यापारी माल लेकर रुपया पाता है, तो वह संचय करने के लिये नहीं, किन्तु इसलिये कि वह रुपया देकर अन्य वस्तुओं को ले सके। व्यवसाय का मुख्य ध्येय संचय नहीं, किन्तु विनिमय में सुविधा देना है। कंजूस का जीवन निकृष्टतम है। लखपती मनुष्य केवल रुपये के स्वरूप का पुजारी होता है, उनके विनिमय-शक्ति के मूल्य की उपेक्षा करता है। इसीलिये धनाढ्य होने पर भी यह भूखों मर सकता है, कठिन-से-कठिन शीत और उष्णता को बरदाश्त कर सकता है। धन साधन है, साध्य नहीं। उसका विनिमय यह सूचित करता है कि वस्तुओं का लेन देन उचित रीति से होता है। इस प्रकार व्यवसाय तथा उसके विस्तृत शाखा-प्रतिशाखाओं का मुख्य सार है, जीवन की भौतिक आवश्यकताओं का पारस्परिक नियम !

आइये ! अब हमलोग देखें कि यह नियम आध्यात्मिक जगत में कैसे लागू होता है। जब कोई धार्मिक,

सहृदयता, दया तथा प्रेम आदि आध्यात्मिक वस्तुओं का दान करके परिणाम-स्वरूप आनन्द का भागी होता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उस आनन्द को केवल अपने ही लिये संचय करे, किंच वह दूसरों को आनन्दित बनाये और उसके बदले में दया का आत्मिक उपहार ग्रहण करे। धर्म का कार्य यह नहीं है कि वह लोगों को वैयक्तिक सुख संचित करने के योग्य बनाये, किन्तु स्वर्गीय सुखों के विनिमय को सुगम करना ही उसका परम कर्त्तव्य है। परम स्वार्थी, जो केवल अपने ही सुख-संचय में रत है, धार्मिक कृपण है। वह सुख के स्वार्थ-रहित विनिमय के मूल्य से विमुख रहता है। वह तो केवल सुख के उपेक्षणीय भाग का पुजारी है। इसीलिये स्व-सुखार्थ एकत्रित अनेक वस्तुओं के रहते हुये भी वह जन्मभर धार्मिक दरिद्र बना रह सकता है। अपने ही लिये सुख तथा आनन्द का सञ्चय करना स्वार्थपरता का और दूसरों को सदाचारी बनाना धर्म का-मूल ध्येय है। इस प्रकार धर्म तथा उसके अगणित सम्प्रदायों का मूल मन्त्र है "आध्यात्मिक आनन्द का पारस्प-

रिक विनियम"।

आध्यात्मिक सुख कौन कौन हैं ? वे हैं—दया, भ्रातृत्वप्रेम, उदारता सहृदयता, क्षमता, सन्तोष, सत्यता, शान्ति, अनन्त प्रेम तथा असीमित अनुकम्पा। ये सुख, भूखी आत्मा की ये आवश्यकतायें, प्राप्त हो सकती हैं—किन्तु उनका उचित मूल्य चुकाना होगा। इनका मूल्य है—निर्दयता, रुष्टता, निष्ठुरता, कोप अधैर्यता, अविश्वास कलह, घृणा, और क्रूरता—और इनसे उत्पन्न सुख तथ सन्तोष सब की तिलाञ्जलि कर देनी पड़ेगी। धार्मिक मुद्रायें जो स्वयं मृतक प्रीतत होती हैं—त्यागनो पड़ेगीं। इनका त्याग करते ही, आप को तुरन्त उनकी धार्मिक प्रति-मूर्तियाँ प्राप्त होंगी। और तब आप अपने को आनन्द श्रोत में बदले हुए पायगें।

उपसंहार में—जब कोई मनुष्य रुपया देकर कोई वस्तु खरीदता है तो फिर अपने रुपये को वापस लेना नहीं चाहता। उसने सदैव के लिये उस रुपये को दे डाला है—और उसके बदले में मिली हुई वस्तु

से सन्तुष्ट है। उसी प्रकार जब कोई अन्याय के बदले न्याय को अपनाता है तो वह फिर अन्याय-जन्य निज सुखों की उपेक्षा नहीं करता। उसने उसका त्याग सर्वदा के लिये कर दिया है—उस त्याग से उसे सन्तोष है, शान्ति है!

इसी तरह जब कोई किसी को दान देता है तो उस दान के बदले में वह मूल्य की प्रत्याशा नहीं करता। क्योंकि यह तो धार्मिक कार्य है—व्यवसायिक कारोबार नहीं। दानस्वरूप में दी हुई भौतिक वस्तु धार्मिक सुख विनिमय का द्योतक है। वह दान और उसके बदले में मिलने वाली वस्तु के सुख का भी प्रतिरूप है।

"क्या इसमें एक पन्थ दो काज" चरितार्थ नहीं होता? संसार की सब वस्तु, प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक विचार सामान्य हैं। साँसारिक पदार्थों के लिये साँसारिक मूल्य और धार्मिक वस्तुओं के लिये धार्मिक मूल्य है। इन मूल्यों को संमिश्रित करना मूर्खता है।

आध्यात्मिक सुख को भौतिक मूल्य पर और भौतिक

सुखों को आध्यात्मिक मूल्य पर लेने की आशा करना स्वार्थपरता और मूर्खता की जड़ है। यह तो केवल विनिमय और धर्म का मिश्रण करना और विनियम ही को धर्म मान लेना है। सहायता, दया तथा प्रेम क्रय नहीं किये जा सकते—इनका केवल आदान प्रदान हो सकता है। दान का मूल्य ग्रहण करने पर दान नहीं रह जाता।

चूँकि प्रत्येक वस्तु मूल्यवान है—अतः यदि हम दानरूप में बराबर देते रहें तो हमें अन्त में थोक रुपया मिलता है। जो तुच्छ आनन्ददायिनी स्वार्थ-परता का त्याग करता है, वह आत्मत्याग-रूपी उच्च आनन्द का उपभोग करता है। विश्व-न्यायशील है। इसका न्याय इतना निर्दोष है कि जो मनुष्य इसका अनुभव एकबार कर लेता है वह निःशङ्क और निर्भय हो जाता है। उसके लिये आश्चर्य और आनन्द के अतिरिक्त कुछ रहता ही नहीं।

# "अनुपात बुद्धि"

दुःस्वप्न में प्रत्येक वस्तु असम्बद्ध रहती है। सब वस्तुएँ तितर बितर रहती हैं और भ्रम तथा दुःख के सिवा कुछ नहीं दीखता। ज्ञानी पुरुषों ने स्वार्थमय जीवन की तुलना कुस्वप्न से की है। दोनों में अभिन्न सम्बन्ध है। स्वार्थ-पूर्ण जीवन में हम अनुपात सम्बन्धी वस्तुओं के मूल स्वरूप को नहीं देख सकते। जिस मात्रा में जो वस्तु हमारे स्वार्थ पर धक्का देती है—उसी माप-दण्ड से उस वस्तु की श्रेष्टता या

न्यूनता आँकते हैं। ऐसे जीवन में ज्वरित उत्तेजना, दुर्धर दुःख तथा आपत्तियाँ ही दीख पड़ती हैं"

दुस्वप्न में प्रभुत्वशाली इच्छा तथा भेदाभेदकर्त्री बुद्धि निष्कर्म रहती है। और स्वार्थी जीवन में मनुष्य का सुन्दर स्वभाव तथा दैवी वृत्तियाँ सुपुप्त हो जाती हैं।

असंस्कृत बुद्धि ज्ञान से वञ्चित रहती है। यह वस्तुओं के उचित पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं देख सकती—फलतः अपने चारो ओर विस्तृत सुन्दरता तथा स्वर-माधुर्यता का अनुभव नहीं कर सकती।

और यह भेदाभेदकत्री बुद्धि है क्या? यह केवल वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप पहिचानने की शक्ति है। यह एक ऐसी मनःशक्ति है—जिसका परिमार्जन करना परम आवश्यक है। और जब प्राकृतिक पदार्थों के सम्बन्ध में इसकी संस्कृति की जाती है तो इसका प्रभाव तमाम बुद्धि पर पड़ती है, जिससे हमारा नैतिक स्वभाव शुद्ध हो जाता है। इसका प्रवेश दोनों भौतिक तथा आध्यात्मिक संसार में होता है। आध्या-

त्मिक जगत् में ही इस अनुपात बुद्धि की कमी है— और यहीं पर उसकी आवश्यकता भी है। क्योंकि धार्मिक-विश्व में चीजों के सच्चे स्वरूप को देखने पर दुख तथा पाश्चात्ताप करने का कोई स्थान ही नहीं रहता।

सब दुःख, चिन्ता, भय तथा कष्टों का उद्गम स्थान कहाँ है ? यही न कि संसारी वस्तुयें मनुष्य की इच्छानुसार नहीं हैं—यही न कि मनुष्य की अनन्त अभिलाषायें उसे वस्तुओं के सच्चे स्वरूप को देखने में असमर्थ कर देती हैं।

जब मनुष्य दुःखाकुलित होता है—उसे अपनी हानि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता। इसकी सतत् चिन्ता उसके जीवन सम्बन्धी सब दृष्टिकोण को बेकार बना देती हैं। वास्तव में दुखद वस्तु बहुत तुच्छ भले ही हों, किन्तु सन्तप्त के लिये तो वह पर्वताकार होकर अपनी तुलना में और पदार्थों को उपेक्षणीय बना देती है।

तरुणावस्था को प्राप्त लोग अपने उस व्यतीत जीवन पर दृष्टिपात कर सकते हैं, जब वे उनके लिये व्याकुल

दुःखी, सन्तप्त तथा निराशापूर्ण हो गये थे और जो अब अपने वास्तविक रूप में बहुत ही तुच्छ मालूम होती है।

यदि आत्मघाती इस समय आत्म-रक्षा करके थोड़े दिन तक प्रतीक्षा करे तो अन्त में उसे ज्ञात होगा कि, जिस बात के कारण वह अपना प्राण दे रहा था, वह वास्तव में कितनी निकृष्ट है।

मन जब अन्तर्वेग के वश में चला जाता है, अथवा दुःख से अकर्मण्य बन बैठता है—तो इसकी विचार-शक्ति भी निष्काम हो जाती है। उस समय यह किसी बात की माप को विचार नहीं सकता। यह क्षुब्ध वस्तुओं का सापेक्ष-मूल्य निर्धारित करने में भी असमर्थ हो जाता है। जागृत तथा कर्मशील होने पर भी वह कुस्वप्नमय जगत में विचरण करता है—जो इसकी तमाम शक्तियों को बाँध देता है।

दुराग्रही इस अनुपात-सम्बन्धी विचार से शून्य हो जाता है। वह अपनी ही बात को अच्छी तथा

श्रेष्ठ मानकर सर्वोपरि करना चाहता है। अपने विपक्षी की एक भी नहीं सुनता। उसकी बात उसे व्यर्थ और निकम्मी मालूम होती है। उसकी बुद्धि पक्षपात-मय हो जाती है। प्रतिपाद्य विषय के प्रकाशनार्थ जो जो विचार वह सोचता है वह सब दूषित हो जाते हैं। उन विचारों को वह परस्पर के उचित सम्बन्ध के निर्णयार्थ प्रयुक्त नहीं कर सकता। वह अपने पक्ष की अच्छाई में पूर्ण विकास कर लेता है। और विपक्ष में, जो वास्तव में उसी के विचारानुसार योग्य है—सब बुराई ही बुराई दीखती है। अर्थात् उसके लिये निस्पक्ष तथा न्याययुक्त होना असम्भव हो जाता है। अपनी ही बात को सर्वमान्य अथवा अपने ही पक्ष-पातियों को सर्वश्रेष्ठ मानने में वह न्याय देखता है।

जिस प्रकार भौतिक पदार्थों के सापेक्षत्त्व को देखने से द्वेष-बुद्धि नाश हो जाती है—उसी प्रकार धार्मिक विषयों के सच्चे रूप को पहिचानने से सब कलह-मूलक वृत्तियाँ दब जाती हैं। अच्छे चित्रकार के लिये कुरूपता कहीं है ही नहीं—वह केवल सुन्दरता का

ही दर्शन सर्वत्र पाता है। जो चीज़ दूसरों के लिये घृणास्पद है, वही उसकी दृष्टि में प्रकृति की एक आवश्यक अङ्ग है और उसके चित्र में सुन्दर प्रतीत होती है। सच्चे ऋषि के लिये कोई वस्तु निन्द्य है ही नहीं—वह सर्वव्यापक सौन्दर्य देखता है। जो दूसरों के लिये निन्द्य है, वह उसकी दृष्टि में, विकासक्रमानुसार, अपने उचित स्थान पर है। उसके लिये वह निष्पक्षतापूर्वक विचारणीय है।

लोग सन्तप्त होते हैं, दुःखी होते हैं, एक दूसरे से लड़ते भिड़ते हैं। क्यों? क्योंकि उनके पास निर्णायक बुद्धि नहीं। वे वस्तुओं के परस्पर सापेक्षत्व को नहीं देख सकते। उनको संक्षुब्ध करने वाले स्वयं वे पदार्थ नहीं है, जिन्हें वे अपनी संक्षुब्धता का कारण मानते हैं। वास्तुवः इसका कारण है, उन वस्तुओं के विषय में उनका विचार, उनकी स्वरचित कल्पनायें तथा अहङ्काररूपी कुस्वप्न की झूठी रचनायें।

वस्तुओं के सम्बन्ध-मापक नैतिक शक्ति को परिष्कृत तथा उन्नत करने पर क्रुद्ध व्यक्ति, दुराग्रही, सौम्य और

शान्ति-प्रेमी बन जाता है । स्वार्थमय शक्तियों के विकट क्रीड़ा में केवल साधनमात्र से, अन्धे को सिद्ध पुरुष की प्रसन्न तथा दिव्य चक्षु मिल जाती है ।

निर्णायक धार्मिक-शक्ति, बुद्धि प्रदान करती है। यह चित्त को प्रसन्नता की ओर अग्रसर करती है और निस्पक्षता तथा न्याय-बुद्धि देकर दोषरहित स्वरमाधुर्य-मय जगत का दर्शन कराती है ।

# "नियम दृढ़ता"

सत्यवादी अपने अङ्गीकृत दैवी नियमों से विचलित नहीं होता। रोग, दारिद्र्य, दुःख, मित्र-विछोह, स्थानाच्युति—इन सब आपत्तियों के अतिरिक्त, यदि उसे मौत का भी सामना करना पड़े तो वह अपने सत्य तथा न्याय-पथ से नहीं डिगता। सब पाप-समूहों से बढ़कर यदि कोई वस्तु अधिक दुःखद, भयावह और त्याज्य है तो वह है "नियम-च्युति"। यदि सच्चे नियम से तुरन्त सुन्दर स्वास्थ्य, द्रव्य तथा आराम न मिले

और इस कारण कोई दैवी नियम से मुख मोड़कर परीक्षा के समय में कायर बनता है—भय, वासना तथा दुष्ट अन्तर्वेगों का दास हो जाता है तो—वह अपना आत्मपतन करता है। यह सब दोषों से बढ़कर दोष और सब पापों से बढ़कर पाप है।

हम रोग और मृत्यु से छूट नहीं सकते। यद्यपि बहुत काल तक हम उनसे बचते रहते हैं, किन्तु अन्त में उसके शिकार हो जाते हैं। परन्तु हम दुष्कर्म से बच सकते हैं। हम डर तथा कायरता को दूर कर सकते हैं। जब हम दुष्कर्म त्याग कर भय को हटा देंगे, तब जीवन के घोर पाप-कर्म हमारे पास आने पर भी हमें विचलित न कर सकेंगे—पराजित होने के कारण उनसे जी चुराने के स्थान पर हम उन्हें पूर्णरूप से उन्हीं के घर में उनपर विजय प्राप्त कर चुके रहेंगे।

बहुत से लोगों का कहना है कि पर-रक्षार्थ कुकर्म करना उचित है। अर्थात् परोपकारार्थ झूठ बोलना अच्छा है। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिये कि कठिन परीक्षा काल में सत्य का त्याग करना उचित है। निम्न कोटि

के अत्यन्त उदात्त पुरुष, सिद्ध पुरुष तथा ऋषिगण ऐसी बातों का समर्थन नहीं करते। क्योंकि ये दिव्य-चक्षु वाले महात्मा इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि कोई भी परिस्थिति, किसी दुष्कर्म को सुकर्म का रूप नहीं दे सकती। और वे यह भी समझते हैं कि झूठ के पाँव नहीं होते। दुःख की अपेक्षा कुकर्म अधिक पापमय है। असत्य बोलना मृत्यु से भी बढ़कर भयावह और विनाशकारी है। पिटर अनुचित कार्य द्वारा अपने स्वामी की रक्षा करना चाहता था, इसपर महात्मा ईसा ने उसे बहुत धिक्कारा। कोई भी बुद्धिमान मनुष्य यथा-अवसर दूसरे का नैतिक पतन कराकर अपने जीवन की रक्षा कभी न चाहेगा।

सब धर्मों को एक दृष्टि से देखने वाले मनुष्य का आदर और उसकी प्रशंसा सभी करते हैं। जो स्त्री और पुरुष कुकर्म, कायरता और असत्य से डरकर दुःख और मृत्यु का सामना किये—कठिन परीक्षा-काल में अपने निश्चित नियम पर दृढ़ तथा शान्त खड़े रहे—और जिस समय शत्रुगण उनको निरुत्साही करने के लिये उनका हँसी

उड़ाकर उनपर ताना मारते थे और प्रेमीगण अपने अश्रु तथा दु:खद शब्दों द्वारा आपत्ति के चंगुल से निकलने के लिये उनसे प्रार्थना करते थे—वे अपने स्थान पर खड़े रहे, पीछे कदम नहीं हटाये। क्योंकि उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात था कि अखिल विश्व का कल्याण तथा मोक्ष उनकी अन्तिम परीक्षा पर ही निर्भर था। इसीलिये वे धर्मरूपी पर्वत की ओर सर्व मानवजाति की रक्षा तथा उन्नति करने वाली शक्ति के केन्द्र की भाँति, आवश्यक काल तक दृढ़ रहे। परन्तु जिसने अपने अभिन्न प्रेमियों के लिये असत्य का आश्रय लिया—उसका नाम कहीं सुनाई तक नही पड़ता। क्योंकि उस निश्चित पथ से विचलित होते ही उसकी शक्ति नष्ट हो गई। यदि उसका नाम कोई लेता भी है तो उस असत्य के लिये नहीं। उसे लोग कायर समझते हैं और संकेत करते हैं कि यह कठिन परीक्षा काल में असफल रहा। उच्चतम धर्म के आदर्श की दृष्टि से, सब समय में सब लोग उसे ठुकराते चलते हैं।

यदि सब लोगों का यह विश्वास होता कि कठिन

परिस्थिति में असत्य बोलना उचित है तो स्वधर्मार्थत्यक्त जीवित मनुष्य तथा ऋषि कभी न होते। मनुष्य जाति का नैतिक जीवन समूल नष्ट हो गया होता और संसार उसे विश्वव्यापी अंधकार में टटोलता फिरता।

जो मनुष्य परोपकारार्थ अनुचित कर्म उचित समझता है—उसके दृष्टिकोण में खिन्नता, दुःख और मृत्यु की अपेक्षा, दुष्कर्म तथा असत्य उपेक्षणीय पाप हैं। परन्तु धर्मात्मा के लिये दुष्कर्म और असत्य अति महान् पाप हैं। इसीलिये अपने तथा दूसरों के लाख प्रयत्न करने पर भी वह इन बुराइयों के पास नहीं फटकता।

सुख तथा वैभव के समय में सभी लोग दृढ़व्रती होने की डींग हाँकते हैं। परन्तु जब दुःख उनको पकड़ता है- दुर्भाग्यमय अंधेरा उन्हें घेरता है और कठिन परिस्थितियाँ अपने भार से उन्हें दबाना चाहती हैं—तभी उनके परीक्षा का समय होता है। इसी समय में यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि वह सत्य का पुजारी है या स्वार्थमय वासनाओं का दास।

आवश्यक समय पर नियम हमारे मुक्ति के साधन

होते हैं। उस समय यदि हम उन्हें ठुकरा देते हैं तो स्वार्थ-जन्य दुःख तथा मायाजाल से हमारा छुटकारा कैसे होगा ?

तत्कालिक दुःख से बचने के लिये अथवा कोई पाप छिपाने के लिये जो आत्म-विरोधी कार्य किया जाता है, उससे दुःख तथा पाप की वृद्धि होती है। भला आदमी दुःख से बचने की चिन्ता में उतना नहीं रहता जितना पाप-कर्म से छुटकारा पाने में। हमारे आनन्द की बाजी लगते ही, नित्य तथा रक्षारत नियम को त्यागकर, न तो हम कोई कौशल दिखाते हैं और न अपने रक्षा का ही प्रबन्ध करते हैं। यदि हम प्रेम के लिये श्रेय को छोड़ते हैं, तो हम श्रेय और प्रेम दोनों से हाथ धो बैठेंगे। परन्तु यदि हम श्रेय की तिलांजलि दे दें तो श्रेय-जन्य शांति से हमारे दुःख की शांति हो जायगा। यदि हम अच्छी चीज देकर बुरी चीज खरीदते हैं, तो हम मनस्ताप तथा असारता ( शून्यता ) का बलिदान होंगे। अनन्त तथा अनित्य के त्यागने से हमें शरण कहाँ मिलेगी ? परन्तु यदि हम तुच्छ वस्तु के बदले श्रेष्ठ वस्तु को लेते हैं, तो

श्रेष्ठ-वस्तु-जन्य बल और सन्तोष के हम भागी होंगे! हम पूर्ण आनन्द को प्राप्त करेंगे। जीवन के पापों तथा चिन्ताओं से विलग होने पर सत्य की आश्रय-शिला पर हमें स्थान मिलेगा।

जीवन के सब परिवर्तनों के बीच की नित्यता को पाना—और सर्व परिस्थितियों में इसको अपनाये रहना ही सच्चा आनन्द है। यही मुक्ति तथा अन्तिम शांति है।

# आत्म-त्याग, आत्मोत्सर्ग

महात्माओं के शिक्षाओं में आत्म-त्याग मौलिक सिद्धान्त होता है। स्वार्थपरता का त्याग ही आत्म-त्याग है। इससे सत्य आचरण का आधार हो जाता है। स्वार्थ कोई वस्तु नहीं जो त्यागनी पड़ती है, किन्तु एक मानसिक दशा है, जो केवल परिवर्तित की जाती है। स्वार्थ-त्याग का अर्थ चैतन्य-शक्ति का हनन करना नहीं—किन्तु कुत्सित तथा स्वार्थमय वासनाओं को दूर करना है। शुभ तथा न्याय्य कर्मों के बुद्धिसंगत अभ्यास को छोड़, विनाशवान पदार्थों तथा क्षणिक-सुखों में अन्ध आसक्ति

ही स्वार्थपरता है। हृदय की लालसा, लोलुपता तथा अभिलाषाओं ही का नाम स्वार्थ है। इनका त्यागना आवश्यक है। बिना इस त्याग के सत्यदेव अपनी स्थायी प्रसन्नता तथा अनन्त शान्ति के साथ दर्शन नहीं देंगे।

विषय-त्याग से कोई लाभ नहीं। विषयों में जो वासना या आसक्ति है, उन्हीं का त्यागना आवश्यक है। किसी मनुष्य का, द्रव्य, स्थान, मित्र, माता-पिता, गृह, स्त्री पुत्रादि तथा जीवन का त्याग देना तबतक निरर्थक है, जबतक कि वह हृदय की वासनाओं का त्याग नहीं करता। बुद्ध भगवान ने संसार तथा संसार की प्रिय वस्तुओं को त्याग दिया—फिर भी छः वर्ष पर्यन्त वे इधर-उधर घूमते रहे, सत्य की खोज करते रहे, नाना प्रकार के कष्ट झेलते रहे। और जबतक उन्होंने अपनी वासनाओं को समूल नष्ट नहीं किया, उन्हें सत्य-प्रकाश तथा शांति नहीं मिली।

इन्द्रिय-विषयों के त्याग-मात्र से शान्ति नहीं मिलती, केवल परिताप बढ़ता है। केवल विषयासक्ति और विषयोपभोग की जो हमारी कामना है, उसी के ही त्याग से हृदय शान्तिमय बन सकता है।

आसक्ति का लेशमात्र भी रहते हुये त्याग दुःख-दायी होगा। जबतक त्यक्त घृणित विषय तथा आनन्द के उपभोग की गुप्त वासना भी हमारे हृदय में रहेगी—तबतक हमें कठिन सन्ताप तथा भयावह प्रलोभनों का सामना करना पड़ेगा। परन्तु जैसे ही उस अयोग्य विषय तथा आनन्द के उपभोग की इच्छा हम समूल सदैव के लिये नष्ट कर देंगे, हमें भविष्य में उस विषय तथा आनन्द के लिये कोई सन्ताप या प्रलोभन न मिलेगा। इसलिये जब स्वार्थ-वासना पूर्णरूप से छोड़ दी जाती है—तब त्याग का दुःखमूलक अंश जाता रहता है और स्वर्गीय ज्ञान तथा शान्ति का दर्शन होता है।

घृणा, लोलुपता, मत्सर, ईर्ष्या, अहंमन्याता, गर्व, दम्भ, आत्मश्लाघा, अतिभक्षण, भोगासक्ति, असत्य, वंचना, पड़ोसी की निन्दा करना, ये स्वार्थ के अंग है। मन तथा हृदय के इन कुत्सित वृत्तियों का छोड़ना ही आत्म-त्याग है। प्राथमिक अवस्थाओं में कार्यक्रम दुख-दायी है, परन्तु शीघ्र ही इसके तीर्थ यात्री को शांति मिलती है। फिर कालान्तर में वह शान्ति अधिक कालतक

उसके पास रहने लगती है। और अन्त में जब सत्य-प्रकाश उसके हृदय में प्रकाशित होने लगता है—शांति उसके साथ स्थायी हो जाती है।

त्याग से शांति मिलती है। क्योंकि सत्यमय-पूर्ण-जीवन में कुछ त्यागना नहीं रहता। उस अवस्था में न तो कोई पीड़ा रहती है और न कोई दुःख। जहाँ स्वार्थ नहीं वहाँ कुछ त्याज्य नहीं। जहाँ नाशवान विषयों में आसक्ति नहीं, वहाँ त्यागना भी कुछ शेष नहीं। जहाँ सत्य की पवित्र वेदी पर सब कुछ बलिदान हो चुका है—वहाँ दान के लिये रहता ही क्या है। सब कुछ त्यागने से, सब कुछ प्राप्त हो जाता है। वासनामय ज्वर के स्थान में सत्यमय शांति की स्थापना होती है। स्वार्थमय प्रेम, दैवी प्रेम में लय हो जाता है। पूर्ण अन्तर्दृष्टि, ज्ञान, अमृतत्त्व और पूर्णशांति के कारण स्वार्थमय विचारों का नाम नहीं रहता।

# मानसिक-नियंत्रण

पिछले पाठ के ही क्रम में मन-संयम पर थोड़ा प्रकाश डालना अनुचित न होगा। पूर्ण तथा निःशेष आत्म-संयम की आवश्यकता अनुभव करने के पहले ही, प्रत्येक व्यक्ति उस भ्रम को दूर कर दे, जिसमें अगणित जन-समुदाय फँसे दीखते हैं। कौन भ्रम? वह भ्रम है—यह विश्वास कि वह अपनी आचरण-भ्रष्टता का पूर्ण उत्तर-दायी स्वयं नहीं है, किन्तु उसके साथी हैं। 'यदि मेरे मार्ग में बाधा डालने वाले न होते तो मैं अधिक उन्नति कर लेता' अथवा 'ऐसे तुच्छ स्वभाव के आदमियों के संग

में रहकर मेरे लिये उन्नति करना असम्भव है' आदि कहकर साधारणतः लोग दुःख प्रकट करते हैं। उनका मूल कारण वह अज्ञानता है, जिसका सहारा लेकर लोग अपनी मूर्खता का उत्तरदायित्व दूसरों के सर मढ़ते हैं।

उद्धत तथा चिड़चिड़े स्वभाव का मनुष्य अपने क्रोधमय अन्तर्वेगों के लिये दूसरों को दोषी ठहराता रहता है। इस भ्रम में सर्वदा पड़े रहने के कारण वह संभ्रम तथा अविवेक का बराबर दास बनता चला जाता है। क्योंकि जो आदमी अपनी निर्बलताओं का कारण दूसरों को मानता है—वह कैसे उनपर विजय पा सकता है ? वह उन्हें वश में करने का प्रयत्न भी न करेगा। परंच इसमें पूर्णरूप से स्थिर हो जाने पर वह अपने क्रोधयुक्त वचनों के बौछार से अपनी रक्षार्थ दूसरों को दोषी बनाता रहेगा। फलतः अपने दुःखीवस्था का मूल कारण ढूँढ़ निकालने में वह पूर्णतया ज्ञान-विमुख हो जाता है।

अपनी इच्छा को उत्तेजना देनेवाली वस्तु को मनुष्य अपने पतित कार्यों का कारण ठहराता है। चाहे जो कुछ भी हो, वह स्वयं दोषी नहीं बनता।

प्रत्येक मनुष्य की निर्बलताओं, पापों और पतन का उद्गम-स्थान उसका हृदय है—वह स्वयं अपना उत्तरदायी है। निसन्देह प्रलोभन तथा उत्तेजना देने वाले बहुत से हैं—परन्तु यदि कोई उनकी बातों को अनसुनी कर दे तो प्रलोभन और उत्तेजनायें कुछ भी न बिगाड़ सकेंगी। प्रलोभनों के दास तथा उत्तेजक तो मूर्ख होते हैं। जो उनके कहने में पड़ता है, वह उनके मूर्खता-पूर्ण कार्य का सहयोगी बनता है। वह अज्ञानी तथा निर्बल है। अपने दुःखों का कारण स्वयं बनता है। शुद्धात्मा के लिये कोई प्रलोभन नहीं, ज्ञानी के लिये उत्तेजना नहीं।

मनुष्य अपने कर्मों का उत्तरदायी स्वयं है—इस बात का अनुभव करते ही वह ज्ञान और शान्ति के पथ पर अग्रसर हो जाता है। क्योंकि अब प्रलोभन उसके विकास का साधन, और दुष्टजनों का व्यवहार उसके आध्यात्मिक शक्ति का माप-दण्ड होगा।

सुकरात ने देवताओं को धन्यवाद इसलिये दिया कि उसकी भार्या दुष्टा थी और जिसके कारण क्षमता ऐसे सद्गुण के अभ्यास का उसे अधिक अवसर मिला।

और यह तो एक सच्ची और बहुत सीधी-साधी बात है कि हम असहिष्णु लोगों का संग करने से अधिक क्षमाशील, और स्वार्थी जनों का संग करने से अधिक त्यागी बनने का प्रयत्न कर सकते हैं। यदि किसी उद्दण्ड-प्रकृति वाले मनुष्य के साथ आप उद्दण्डता दिखलाते हैं, तो आप भी उद्दण्ड हैं और यदि किसी स्वार्थी के साथ अपनी स्वार्थपरता का परिचय देते हैं, तो आप पूरे स्वार्थी हैं। परीक्षा ही सदाचार का मापक तथा निर्णायक है। स्वर्ण तथा मूल्यवान प्रस्तरों की भाँति, सौजन्यता की परीक्षा जितनी ही अधिक करते जाइये, उतनी ही अधिक उज्ज्वलता तथा स्वच्छता इससे आती जायगी। यदि कोई आदमी अपने को किसी सद्गुण में सिद्ध समझता है, परन्तु उसके विरोधी अवगुण का सामना होते ही अटल नहीं रह सकता तो उसे यह समझ लेना चाहिये कि वह भ्रम में है—वह अभी तक उस गुण विशेष की प्राप्ति नहीं कर पाया है।

# मानसिक-संयम

यदि वास्तव में कोई उन्नति करके एक सत्पुरुष होना चाहता है तो उसे अपने हृदय से 'अन्य लोग मेरे उन्नति के बाधक हैं' ऐसे निर्बल तथा मूर्खतापूर्ण विचारों को निकाल देना चाहिये। और उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि वह अपना शत्रु स्वयं है। उसे यह भी ज्ञात होना चाहिये कि दूसरों से प्रभावित होना केवल कमजोरी की निशानी है। (तदन्तर देखिये आप कितनी जल्दी परिवर्तित हो जाते हैं) वह ज्ञान प्रकाश से प्रका-

शित हो जायगा। शान्ति-द्वार उसके लिये खुल जायगा। बात-की-बात में वह आत्म-विजयी बन बैठेगा।

कोई दूसरों के संसर्ग से बराबर दुःखी और सन्तुब्ध हुआ करता है—यह बात प्रकट करती है कि उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिये तथा अपने को अच्छी तरह समझने के लिये उसे ऐसे ही संग की आवश्यकता है। यदि उसे अपने उत्तरदायित्त्व तथा अपनी सुकार्य-कारिणी आन्तरिक शक्तियों का परिचय हो जाय तो वे चीजें, जो अपार बाधाओं के रूप में प्रतीत होती थीं, उसके उन्नति-पथ के साधन बन जायँ। तब वह अपने अमानुषिक आचार के लिये दूसरों को दोषी ठहराना बन्द कर देगा। और सब परिस्थियों में मुस्तैदी के साथ रहना सीख जायेगा। आत्म-वंचनारूपी परदा उसके नेत्र से हट जायगा। तब वह इस बात को भलीभाँति समझ जायगा, कि अन्य अवसरों पर जब वह आवेश में आकर दूसरों को अपना प्रेरक समझा करता था—वह स्वयं ही प्रेरक था। अपने मानसिक क्षोभ के पहुँच से बाहर होने पर, उसे क्षुब्ध जनों के संग की कोई आवश्यकता न पड़ेगी। स्वाभा-

विक-रीति से ही उसे शान्त तथा नेक पुरुषों की संगत मिल जायगी। तब वह आत्म-स्थित सद्‌गुणों से दूसरों को प्रभावित करेगा।

उदात्त बनो! तुम्हारी सौजन्यता के दर्शन मात्र से दूसरों में सौजन्यता जागृत हो उठेगी।

# आत्म-संयम तथा स्वर्गद्वार

ज्ञान-प्राप्ति के पहले संसार को सर्वप्रथम आत्म-संयम का पाठ पढ़ना है। अनुभवरूपी स्कूल में जिन कटु दण्डों को मनुष्य सहता है उसका केवलमात्र कारण यही है कि उसका आत्मा नियंत्रित नहीं। आत्म-नियंत्रण के बिना मोक्ष अर्थहीन और शान्ति-प्राप्ति असम्भव है। क्योंकि कोई मनुष्य किसी पाप के वश में होते हुये उससे कैसे छुटकारा पा सकता है? अथवा अपने मानसिक क्षोभों तथा दुःखों को पराजित किये बिना उसे स्थायी शान्ति कैसे मिल सकती है?

आत्म-नियंत्रण ही स्वर्ग-द्वार है। यह प्रकाश तथा शान्ति की ओर ले जाता है। उसके बिना मनुष्य नर्कवासी है—वह अशान्ति और अन्धकार में विलीन है। आत्म-संयमी न होने से मनुष्य अपने माथे पर घोर दुःखों को मढ़ता है—अनिर्वचनीय मानसिक तथा शारीरिक तापों को सहन करता है। उसके दुःख और सन्ताप उसे तबतक हैरान करते रहेंगे—जबतक वह आत्म-नियंत्रण का कार्य आरम्भ नहीं कर देता। इसकी प्रतिस्पर्धा करने वाली कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो इसकी स्थान-पूर्ति कर सके। आत्म-संयम आरम्भ करके कोई आदमी जो अपना उपकार कर सकता है—उसे करने वाली संसार की कोई अन्य शक्ति है ही नहीं।

आत्म-नियंत्रण से मनुष्य अपने दैवी-गुणों का प्रकाशन करके दैवी-ज्ञान तथा शान्ति का भागी होता है। उसका अभ्यास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। निर्बल मनुष्य भी इसी समय से इसका अभ्यास आरम्भ कर सकता है। जब तक वह इस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, वह निर्बल बना रहेगा अथवा संभावना है कि उसकी निर्बलता

बढ़ती जाय। जो आत्मा को अपने वश में नहीं करते, अपने हृदय को शुद्ध नहीं बनाते—ईश्वर के प्रति उनकी सब प्रार्थना व्यर्थ है। जो कलह-मूलक अज्ञानता तथा कुवृत्तियों में लिपटे रहेंगे, उनका ईश्वर की सर्वज्ञता में विश्वास करना या न करना बराबर है।

जो मनुष्य पर-दोषरत जिह्वा को ठीक नहीं करना चाहता, क्रुद्ध स्वभाव का दास बना रहना चाहता है और अपवित्र विचारों का उत्सर्ग नहीं कर सकता—उसे न तो कोई वाह्य शक्ति सन्मार्ग पर ला सकती है और न उसके किसी धार्मिक बात के समर्थन तथा विरोध ही से उसकी भलाई हो सकती है। मनुष्य अपने अन्तर्हित अन्धकार पर विजय पाकर ही सत्य-प्रकाश का दर्शन पा सकता है।

मनुष्य आत्म-संयम के परम गौरव का अनुभव नहीं करता। वह इसके निःसीम आवश्यकता को नहीं समझता। और फलतः आध्यात्मिक स्वतन्त्रता तथा वैभव, जिनकी तरफ़ यह मनुष्य को प्रेरित करती है मनुष्य की दृष्टि-पथ से छिपे रहते हैं। इसी कारण

मनुष्य कुवासनाओं का दास बना रहता है और दुःख तथा व्यथाओं का शिकार होता रहता है। पृथ्वी-मण्डल पर फैले हुए बलात्कार, अपवित्रता, रोग तथा दुःखों पर दृष्टि दौड़ाइये और देखिये कि कहाँतक आत्म-संयम की कमी इन सब का कारण है। तब आप को इस बात का पूर्ण अनुभव करेंगे कि आत्म-नियन्त्रण की कितनी अधिक आवश्यकता है।

मैं इस बात को दोहरा देना चाहता हूँ कि आत्म-संयम ही स्वर्ग-द्वार है। इसके बिना आनन्द, प्रेम या शान्ति, इनमें से किसी को न तो प्राप्ति हो सकती है और न कोई स्थायीरूप से टिक सकता है। जितनी ही मात्रा में इसकी कमी जिसमें होगी, उतनी ही मात्रा में वह भ्रम का शिकार बनेगा। राष्ट्रीय कानूनों द्वारा शान्ति-स्थापना करते तथा विनाशकारी अराजकता रोकने की आवश्यकता केवल इसलिये पड़ती है कि लोगों ने आत्म-संयम करना अभी तक नहीं सीखा है।

आत्म-संयम पुण्य की प्रथम सीढ़ी है। इससे प्रत्येक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। सुव्यवस्थित तथा

सच्चे धार्मिक जीवन की यह सर्वप्रथम आवश्यकता है। इससे प्रसन्नता, सुख तथा शान्ति मिलती है। ईश्वर विषयक विश्वास व्यवसाव होते हुए भी, इसके बिना सच्चे स्वार्थ की स्थापना नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकाशित आचरण का ही दूसरा नाम धर्म है। और मन की दुर्धर वृत्तियों पर विजय पाने के अतिरिक्त आध्यात्म है ही क्या ?

जिस समय मनुष्य आत्म-नियंत्रण के कार्य से विलग होकर आत्म-संयम करना नहीं चाहता, तभी उसे यह घोर अन्धकारमय भ्रम होता है कि धर्म और आचार भिन्न हैं। तब वह अपने मन को इस भुलावे की तरफ ले जाता है कि धर्म और आत्म-संयम से कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि धर्म तो केवल धार्मिक पुस्तकों में विश्वास करने तथा देवता-विशेष की आराधना—विहितरूप से करने में ही है। इसी कारण सार-रहित-पूजा विषयक अनेक संकीर्णताओं तथा भ्रमों का विकास हुआ। और यही कारण है उन कठोर लड़ाई तथा झगड़ों का, कि लोग अपने सुनिश्चित धर्मों

का पक्ष लेकर पड़े रहते हैं। किन्तु सच्चा धर्मसूत्र यह नहीं हो सकता। यह तो चित्त की शुद्धता है, एक प्रेमी हृदय है। विश्व से बन्धुत्व का भाव रखने वाला आत्मा है। यह अपने पक्ष की रक्षा नहीं करना चाहता क्योंकि यह तो सत्तावान है; कर्मशील है और जीव-धारी है। आत्म-संयम प्रारम्भ करते ही मनुष्य धर्मा-भ्यास में रत हो जाता है।

# "कर्म और उनके परिणाम"

"उचित कार्य करने पर आपत्ति आ ही जाती है"—इस बहानेसे लोग साधारणतः अनुचित कार्य किया करते हैं। इसप्रकार मूर्ख लोग कार्य करना अपना कर्त्तव्य न समझ कर उसके फल में आसक्त रहते हैं। प्रत्येक कार्य के फल को वे पहले ही कल्पित कर लेते हैं। द्वेष तथा मधुर फल से राग करने की इच्छा ही मनुष्यों के भ्रमों का मूल कारण है ? इससे मनुष्य सुकर्म और कुकर्म की पहिचान नहीं कर सकता। और

इसी कारण वह कुकर्मों को त्यागकर अन्य रूप से सुकर्म करने में तल्लीन भी नहीं होता। जब मनुष्य परोपकार के काम से स्वार्थरहित होकर निन्द्य कर्म करता है—तब भी यही भ्रम उसका मौलिक कारण होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि ऐसे अवसरों पर उसका रूप अधिक भयावह तथा मार्मिक हो जाता है।

ज्ञानी पुरुषों का नाता केवल कर्म से रहता है, कर्म-फल से नहीं। क्या सुखदायी और क्या दुःख-दायी है, ज्ञानी इसका विचार नहीं करता। उसका काम तो केवल यह देखना है कि उचित क्या है ? फल से विमुख होकर केवल उचित कार्यों को करने से वे लोग शङ्का, वासना तथा भय आदि के भार से मुक्त रहते हैं। इसप्रकार से कर्म करने वाला न तो वाह्य आडम्बर में फँस सकता है और न तो दुःखद संभ्रमों से दुखित होता है। उसका मार्ग सीधा तथा प्रशस्त है। उसे भ्रम और सन्देह में पड़ने की कोई शंका ही नहीं रहती। इसीप्रकार से कर्म करने वालों को भी कृष्ण भगवान ने निष्कामकर्ता कहा है और ऐसे ही लोगों

को योगी के नाम से पुकारा जाता है।

जो केवल फल पाने की इच्छा से कार्य करते हैं और स्वार्थ पर धक्का लगते देख सुपथ से विचलित हो जाते हैं उनका—शंका, कष्ट, भ्रम तथा दुःख से कभी छुटकारा नहीं हो सकता। संभावित फलों का अनुपात आगे ही से लगाकर दिन प्रतिदिन अपना कर्म-मार्ग बदलते रहते हैं। वे अस्थिर रहते हैं। परिस्थिति के परिवर्तनशील वेगों से नित्य ठुकराये जाते हैं। उनकी घबड़ाहट अधिक बढ़ती जाती है। और फलतः अपने मनोवाँछित फलों को नहीं पाते।

परन्तु जो केवल न्यायार्थ कर्म करते हैं, वे केवल उचित कार्य को ही अपने दृष्टिकोण में रखते हैं, सब स्वार्थपूर्ण भावनाओं को दूर भगा देते हैं और फलाशा रहित हो जाते हैं—वे सब परिवर्तनों के मध्य में भी स्थिर, अटल, सुखी तथा शान्त रहते हैं। उनके कर्मों का फल सदैव मीठा तथा सुखद होता है।

न्यायशील पुरुषों की यह ज्ञानपूर्ण बात कि कुकर्मों का फल अच्छा नहीं हो सकता और सुकर्मों का

परिणाम कभी बुरा नहीं होता, अत्यन्त आश्वासन-युक्त तथा शान्तिपूर्ण है। क्योंकि कर्म-फलों की इच्छा आप करें या न करें—उनसे आप कदापि बच नहीं सकते (अवश्य ही भोक्तव्यं कर्मफलं शुभाशुभम्)

जो लोग सत्य के नियमों से अभिज्ञ होकर मनो-वाँछित फल की आशा से, केवल स्वार्थ के लिये कार्य करते हैं—वे सदैव ही कटुफलों के भागी होते हैं।

जो कर्म-फल से विलग होकर अपने को केवल फलों का भोक्ता समझता है—और धर्मार्थ कार्य करता है, वह धर्म के सुन्दर फलों का अधिकारी होता है।

धर्म अत्यन्त सरल है। इसमें सङ्कीर्णता का नाम नहीं। पापाचार अनन्तरूप से सङ्कीर्ण है और मन को भ्रमजाल में फसा देता है।

स्वार्थ और वासनाओं को छोड़कर अपने को सत्कर्म में लगाना ही परम ज्ञान है।

# ज्ञान-मार्ग

ज्ञान-पथ सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। इसमें सब शङ्कायें तथा भ्रम दूर हो जाते हैं और ज्ञान तथा असंदिग्धता का पूर्ण अनुभव होता है।

संसार के उत्तापों, आनन्दों और जीवन-वासनाओं के तरंगित आवर्तों के मध्य में रहते हुये शान्त, स्थिर तथा सुन्दर ज्ञान की प्राप्ति करना अत्यन्त दुष्कर है। इसके अप्राप्ति का कारण अचिन्तनीय संकीर्णता नहीं, किन्तु इसकी अव्यक्त सादगी है। परंच स्वार्थ अन्धा और उद्दंड

है। वह सदैव ज्ञान-संबन्धी अधिकारों और आनन्दों पर जला करता है।

ज्ञान को मनुष्य ठुकराता रहता है। क्यों ? इसीलिये कि वह कटु निर्भत्सना के रूप में उसके स्वार्थ पर धक्का देता है। और मनुष्य की कुवासनायें, निर्भत्सित होना नहीं चाहतीं। इसीलिये ज्ञान-प्राप्ति के पहले स्वार्थ को समूल नष्ट कर देना चाहिये। ज्ञान और स्वार्थ में शत्रुता होने के कारण ( ज्ञान के आगमन की सम्भावना पर ) स्वार्थ विद्रोह मचा देता है। वह पददलित तथा निर्मूल होना नहीं चाहता।

मूर्ख मनुष्य अपनी वासनाओं तथा वैयक्तिक तृष्णाओं का दास है। यही कारण है कि कोई कार्य आरम्भ करने के पहले वह उसके औचित्य पर ध्यान नहीं देता— वह केवल यही देखता है कि इससे उसके स्वार्थ-साधन तथा अनन्द में कितनी सहायता मिलेगी ? अपनी वासनाओं को रोक कर निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार कार्य नहीं करता। वह तो मन की प्रवृत्तियों का ही ( अन्धा ) दास है। वे जिधर जाती हैं, वहीं

वह भी जाता है।

ज्ञानी वैयक्तिक लालसाओं को ताक पर रखकर अपनी वासनाओं को अपने वश में रखता है। उसके कार्य वासना-प्रेरित नहीं होते। वह तटस्थ होकर न्याय-कार्य पर मनन करता है—तब उसे करना आरम्भ करता है; वह सदैव विचारशील तथा आत्मवान रहता है, अपने कार्यों को उच्च नैतिक सिद्धान्तों द्वारा प्रेरित करता है। वह सुख तथा दुख दोनों के ऊपर है।

पुस्तकों से, यात्रा से, शिक्षा से अथवा तत्त्व-ज्ञान आदि से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह तो केवल अभ्यास से मिल सकती है। कोई मनुष्य सर्वोच्च महात्मा की शिक्षाओं का अध्ययन करे, परन्तु यदि वह अपने को शुद्ध नहीं बनाता, आत्म-नियन्त्रण नहीं करता—वह सर्वदा मूर्ख बना रहेगा। कोई आदमी बड़े-बड़े दार्शनिकों के लेखों को भले ही पढ़ा करे, परन्तु जबतक वह अपनी वासनाओं का दास है—उसे ज्ञान-प्राप्ति कदापि न होगी।

न्याय, कर्म तथा कर्तव्य ही ज्ञान है। अनुचित कर्तव्य तथा कार्य करना मूर्खता है। यदि मनुष्य अपने

अपराधों को पहिचानकर उन्हें त्यागने का प्रयत्न नहीं करता तो उसका सब पाठ अध्ययन तथा शिक्षा व्यर्थ है । ज्ञान—दम्भी को संकेत करता है, 'आत्मश्लाघा-मत करो'; घमण्डी को "नम्र बनो" लोभी को "अपनी जिह्वा को नियंत्रित करो" क्रोधी को "क्रोध शान्त करो" रोषयुक्त पुरुष को "अपने शत्रु को क्षमा करो" विषयासक्त को "संयत हो जाओ" अपवित्र को "अपने हृदय से कुवासनाओं को मार भगाओ" और सम्पूर्ण जाति को "छोटे छोटे दोषों से बचे रहो, कर्तव्यपरायण बनो और दूसरो के कार्य में विघ्न मत डालो" ।

ये सब बातें बहुत सीधीसादी हैं। उनका करना भी सरल है । परन्तु इनके करने से स्वार्थ नष्ट हो जाता है, इसीलिये मनुष्य की स्वार्थपूर्ण वृत्तियाँ उनपर आक्रमण करती हैं, उनसे विद्रोह करने के लिये तत्पर हो जाती हैं। उन्हें तो अपने जीवन के कलुषित आनन्द तथा विक्षुब्ध उत्तेजनाओं से प्रेम है। ज्ञान के प्रसन्न तथा सुन्दर शान्ति से उन्हें घृणा है । इसी कारण मनुष्य मूर्ख का मूर्ख बना रहता है।

तथापि ज्ञान-मार्ग सदैव खुला रहता है। अज्ञान-रूपी कण्टक-मय तथा सङ्कीर्ण मार्ग से, व्यथित पथिक का स्वागत करने के लिये वह सदैव तैयार रहता है। मनुष्य को ज्ञानी बनने में, उसके सिवा और कोई बाधक नहीं। अपने प्रयत्नों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से वह ज्ञानी नहीं हो सकता।

जो अपनी आत्मा के प्रति सत्य होने के लिये, अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने तथा पहिचानने के लिये और तत्क्षण अपने पुनरोत्थान के मार्ग पर अग्र-सर होने के लिये तत्पर है—उसे ज्ञान-मार्ग की प्राप्ति अवश्य होगी। वह विनम्र तथा आज्ञाकारी पैरों से उस मार्ग पर चलकर, उचित समय में मोक्ष-रूपी सुन्दर नगर में प्रवेश करेगा।

# "स्वभाव"

"यह मेरा स्वभाव है, मैं इससे बाज नहीं आ सकता"। खेद है कि अनुचित कार्य का समर्थन करने के लिये यह वाक्य अधिकाँश लोग प्रयुक्त करते हैं। आखिर इसका अर्थ क्या है? यही न कि इस बात का कहने वाला इस बात में पूर्ण विश्वास करता है कि वह उस कार्यविशेष के सिवा दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता—वह अपने चरित्र को परिवर्तित नहीं कर सकता। वह सोचता है कि अनुचित कार्य उसे जीवन-

पर्यन्त करते रहना चाहिये। क्योंकि वह इसीलिये पैदा हुआ है अथवा उसके बाप दादे भी उसी तरह के थे। यदि यह सब नहीं तो कुछ वर्ष पूर्व उसके वंश का कोई न कोई पीड़ित हुआ होगा, इसीलिये वह ऐसा है और उसे ऐसा ही रहना चाहिये। ऐसे विश्वास का समूल नाश कर देना चाहिये, क्योंकि इसमें कोई रहस्य अवश्य छिपा है। यह सर्वोन्नति का, सद्गुणों के विकास का, सच्चरित्रता का और दीर्घायु का पूर्ण रूप से बाधक है। चरित्र स्थिर नहीं रहता। वास्तव में स्वभाव-सम्बन्धी सब वृत्तियों से बढ़कर यह परिवर्तन-शील है। यदि इच्छा की चैतन्य-शक्ति से वह परिवर्तन न भी किया जाय तो परिस्थितियों के प्रभाव से वह अनन्तर विकृत तथा पुनर्निर्मित हुआ करता है।

स्वभाव स्थायी नहीं रहता, जब तक कि मनुष्य कोई कार्य बारबार करते रहने की आदत नहीं डालता अथवा हठवश इस अन्ध-विश्वास में नहीं पड़ जाता कि "इस कार्य को किये बिना वह रह ही नहीं सकता"।

यदि वह इस अन्ध-विश्वास को त्याग दे तो उसे तत्काल ज्ञात होगा कि वह "इस कार्य के किये बिना रह सकता है"। फिर उसे अनुभव होगा कि बुद्धि और इच्छा ये दोनों ऐसे साधन हैं जिनकी सहायता से वह स्वभाव को कोई रूप दे सकता है।

आखिर स्वभाव है ही क्या ? बारबार किसी कार्य को करते रहने से जो अभ्यास पड़ जाता है, उसी को तो स्वभाव की संज्ञा देते हैं। उस कार्य का बारम्बार करना बन्द कर दीजिये और देखिये क्या फल होता है। स्वभाव बदल जाता है, और चरित्र परिवर्तित हो उठता है। निःसन्देह पुरानी आदत से छुटकारा पाने में पहिले बहुत कठिनाई प्रतीत होती परन्तु सतत् प्रयत्न करते रहने से कठिनाई कम होती जाती है और अन्त में बिलकुल नष्ट हो जाती है। तब नवीन और सुन्दर आदत का पुनर्निर्माण होने लगता है। बुरा स्वभाव सुन्दर, और चरित्र उदात्त बन जाता है। मनस्तापों से छुटकारा पाकर आनन्द में लीन हो जाता है।

यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य उस स्वभाव का दास बना रहे तो उसके दुःख का कारण उसकी इच्छा के प्रतिकूल हो। वह उसका त्याग कर सकता है। वह अपने को मुक्त कर स्वतन्त हो सकता है।

# वैयक्तिक स्वतन्त्रता

अपने मानसिक संसार में मनुष्य सर्व शक्तिमान् है, परन्तु आप लोगों के मानसिक जगत तथा वाह्य विषयों के प्रति उसकी शक्ति सीमित है। वह अपने मस्तिष्क पर नियन्त्रण रख सकता है। किन्तु दूसरे के विचारों पर उसका कोई अधिकार नहीं। अपने विचारों में से जिस विचार को चाहे वह चुन ले परन्तु अपने से परे विचारों को वरण करने का उसमें कोई सामर्थ्य नहीं। वह अपने मन तथा अवस्थाओं के प्रति अपने दृष्टि-

कोण को संयत कर सकता है—किन्तु अपनी अवस्थाओं को वह अपने वश में नहीं रख सकता।

मनुष्य अपने मानसिक-साम्राज्य को दोषरहित कर सकता है—परन्तु वाह्य जगत को वह शुद्ध नहीं बना सकता। क्योंकि वाह्य-संसार ऐसे मनों की रचना है, जिन्हें वरण करने की स्वतन्त्रता उसे उतनी ही प्राप्त है जितनी आप को। एक पवित्र आत्मा किसी तुच्छ मनुष्य के हृदय को दोषरहित नहीं बना सकता। परन्तु शुद्ध जीवन से तथा शुद्धि-प्राप्ति के साधन को दूसरों के लिये आदर्श बनाने से, शिक्षक के रूप में दूसरों का नेतृत्व कर सकता है और इसप्रकार दूसरे लोगों को शीघ्रातिशीघ्र आत्मशुद्धि के निमित प्रोत्साहित करता है। परन्तु मनुष्य की स्वतन्त्रता निस्सीमीत है। आप के प्रोत्साहन देने पर भी वह चाहे तो आपके नेतृत्व को स्वीकार करे या न करे।

इस उभय-मुखी सत्य—( वाह्य जगत पर कुछ अधिकार न रहते हुये भी मनुष्य अपने मन का स्वामी है )—के कारण ही हम अपने विचार तथा कर्मों के फल से बच नहीं

सकते। कार्य-परिणामों को परिवर्तन करने तथा दूर भगाने में वह शक्तिहीन है, परन्तु फिर भी अपने क्रियात्मक विचारों के सम्बन्ध में उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। विचारों के स्थान देने के पश्चात् उनके फलों का पूर्ण उपभोग करना उसके लिये अनिवार्य हो जाता है। कर्म करने के बाद वह उनके परिणामों से भाग नहीं सकता।

(ईश्वरीय नियम तो विश्व-व्यापक है। प्रत्येक मनुष्य के लिये पूर्ण वैयक्तिक स्वतंत्रता है)। मनुष्य अपने इच्छानुकूल कार्य कर सकता है। एक आदमी को चोरी करने की स्वतंत्रता है—तो दूसरे को चोर से अपनी रक्षा करने की। विचारों को सोच लेने पर, कार्यों के समाप्त करने पर, उन विचारों तथा कार्यों पर हमारा कोई अधिकार नहीं रह जाता। परिणाम निश्चित है। वे दुहराये नहीं जा सकते। विचारों तथा कार्यों के स्वाभाव के अनुसार—सुखद अथवा दुःखद, उनके परिणाम हुआ करते हैं।

इस बात का ध्यान रखते हुये कि प्रत्येक मनुष्य चिन्तन तथा कार्य करने में स्वतंत्र है—मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शीघ्रातिशीघ्र दूसरों के विचारों

पर भी विचार करना सीखे । बिना ऐसा किये—उसे निरन्तर परीशानी उठानी पड़ेगी। अन्य लोगों को बिना ध्यान किये, विचार करना या कार्य करना शक्ति का दुरुपयोग तथा स्वतंत्रता की सीमा का उल्लंघन करना है। ऐसे कार्यों और विचारों को तो स्वतंत्रता के सिद्धान्त ही निष्फल कर देते हैं, जिससे मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है। जब मस्तिष्क अज्ञानता की सीमा पार करके अपने ही वृत्त में अपनी शक्ति के गौरव का अनुभव करता है, अन्य लोगों के प्रति वैरभाव छोड़कर, उनकी स्वतंत्रता स्वीकार कर उनके साथ एकता का भाव स्थापित करता है—तभी आध्यात्मिक पूर्णता और दुःख-शान्ति का अनुभव होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से स्वार्थपरता, अहंमन्यता और एकतंत्रता ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। वे सब एकरूप ही हैं। प्रत्येक स्वार्थपूर्ण विचार या कार्य अहंमन्यता को व्यक्त करता है। दुःख तथा निष्फलता इनके अन्तिम परिणाम हैं, यह नष्ट इसलिये हो जाता है कि तुच्छ-से-तुच्छ विषय में भी स्वतंत्रता का नियम अभेद्य है। यदि स्वार्थपरता बल-

वती होती तो स्वतंत्रता की सत्ता ही न रहती। स्वतंत्रता के अभेद्य सत्ता के कारण ही स्वार्थपरता सर्व प्रकार से विफल प्रयत्न होकर केवल दुःख को प्राप्त होती है। प्रत्येक स्वार्थ-पूर्ण कार्य में आत्माभिमान के दो तत्व मिश्रित रहते हैं। (१) पर-स्वतंत्रता का निराकरण (२) अपनी स्वतंत्रता का अनधिकारपूर्ण प्रतिपादन। अतः यह अपने ही नाश का कारण स्वयं होता है। अनियमित शासन मृत्यु है।

वास्तव में मनुष्य स्वयं स्वार्थपूर्ण जीव नहीं है—इसका (स्वार्थवृत्ति का) निर्माता वह स्वयं है। यह उसके उस शक्ति का, जो आत्म-सत्ता का भी उल्लंघन कर सकती है—एक लक्षण है। स्वार्थपरता ज्ञान्य-शून्य शक्ति है। यह कुपथ-प्रेरित सामर्थ्य है। अपने मानसिक-सत्ता की शक्ति तथा स्वभाव की अज्ञानता के कारण ही मनुष्य स्वार्थी है। ऐसी अज्ञानता तथा स्वाधीनता का परिणाम दुःख है। बारम्बार दुःख सहन करने और बहुत समय तक अनुभूति प्राप्त करने के पश्चात् उसे ज्ञान और अपनी शक्ति की उचित प्रयोग-विधि प्राप्त हो जाती है। सच्चा ज्ञानी स्वार्थ-रत नहीं रहता। वह दूसरों पर स्वार्थान्ध का

दोष नहीं लगाता, और न वह दूसरों को स्वार्थ-हीन होने के लिये मजबूर ही करता है।

स्वार्थी मनुष्य अपने को सर्वश्रेष्ठ मानकर अन्य लोगों को अपना अनुगामी बनाना चाहता है। इसप्रकार वह स्वयं-स्वेच्छाचारी होते हुये भी दूसरों की स्वेच्छाचारिता का प्रतिरोध करने में अपनी शक्ति का ह्रास करता है। परिणामतः वह अन्य लोगों के मस्तिष्क की तद्भुत वृत्तियों तथा स्वतंत्रता का वैरी बन बैठता है और अपने दुःख के साधनों को स्वयं अपने विरुद्ध प्रेरित करता है। यही कारण है विरोधी-शक्तियों के अन्योन्य क्रीड़ा का, वासनाओं के अनन्त महादाह या प्रज्वाल का, नाना प्रकार के दुःख, कलह तथा-संक्षोभ या कोलाहल का। स्वार्थपरता दुरुपयुक्त शक्ति है।

स्वतंत्र मनुष्य वही है, जो दूसरों के स्वेच्छाचारिता तथा यथेच्छा शक्ति-प्रयोग के अधिकार को स्वीकार करके उनकी स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करता—जो दूसरों के मामिले में दस्तन्दाजी नहीं करता—जो अहंकार रहित होकर अपनी निस्सीमित स्वतंत्रता का अनुभव करता है।

अन्य लोग जैसा चाहे वैसा व्यवहार उसके साथ करें, उसे इससे दुःख या कष्ट न होगा। क्योंकि वह पूर्णरूप से इस बात को चाहता है कि अन्य लोग यथेच्छानुसार वर्तें। वह उनके क्रिया-प्रकार को परिवर्तित करना नहीं चाहता। वह इस बात को अच्छी तरह समझता है कि उसका मुख्य कर्तव्य और उसकी पूर्ण शक्ति केवल इसी बात में है कि वह स्वयं दूसरों के साथ सुन्दर व्यवहार करे। दूसरों का आचार व्यवहार उसके प्रति कैसा है, इसकी चिन्ता वह नहीं करता। अतः त्यागी पुरुष के लिये तो, डाह, द्वेष, ईर्ष्या, अभियोग, दण्ड, क्लेश आदि कुछ है ही नहीं। इन दुर्वृत्तियों से छुटकारा पाने के बाद उनके आक्रमण से वह क्षुब्ध नहीं होता। इसप्रकार पाप और दुःख से मुक्ति हो जाती है। स्वार्थरहित पुरुष स्वतंत्र है। पाप-जाल को उसने अपने लिये असम्भव बना दिया है। वह सब बन्धनों से मुक्त है।

# कर्मजन्य सुख तथा गौरव

'कर्म ही जीवन है।' यह सिद्धान्त सत्यता से ओत-प्रोत है। इसे न तो बारम्बार दुहराने की आवश्यकता है और न दत्त-चित्त होकर पढ़ने या अभ्यास करने की। कर्म के वास्तविक रूप को कोई नहीं देखता—इसके उस स्वरूप की, जो स्वतंत्र रूप से सुखपूर्ण तथा गौरवशाली है। लोग इसे सुख तथा चैन के प्राप्ति का एक दुःखद तथा पदभ्रंशक साधनमात्र समझते हैं। इसीलिये इस बात की आवश्यकता है कि आप उपरोक्त सिद्धान्त को भलीभाँति हृदयंगम कर लें, पूर्णरूप से बुद्धिगत कर लें।

मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम ही जीवन का तत्त्व है। अशेष नैष्कर्म्य मृत्यु है। दुष्टता मृत्यु की अनुगामिनी है। मृत्यु और विश्रान्ति सहधर्मिणी हैं। चैतन्यता की प्रचुरता हमारी कर्मशीलता पर अवलम्बित है। समाज में अध्ययनशील, दार्शनिक तथा निरन्तर मानसिक कार्य करने वाला दीर्घायु होता है। उसके पश्चात् किसान, माली तथा अविरल शारीरिक परिश्रम करने वाले का स्थान है।

शुद्ध हृदय तथा स्वस्थ चित्तवाले मनुष्य कार्य से प्रेम करते हैं। उन्हें कर्म करने में ही आनन्द आता है। वे परिश्रयम से असन्तुष्ट कभी नहीं होते। यदि कोई मनुष्य शुद्ध तथा स्वार्थपूर्ण जीवन व्यतीत करता हो— तो उसके प्रति 'वह अति क्लान्त किया जाता है' यह वाक्य कभी प्रयुक्त हो ही नहीं सकता। संताप, कुवृत्ति, असन्तोष और विशेषरूप से अकर्मण्यता ही मनुष्य के लिये घातक है। क्योंकि यदि परिश्रम जीवन है तो आलस्य ही मृत्यु है। आइये ? हम सर्वप्रथम पापमुक्त हों, तत्पश्चात 'अतिश्रम' के विषय में कुछ विचार करें।

कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो 'कर्म' से डरते हैं। इसे वे

शत्रुवत देखते हैं, सोचते हैं कि अतिश्रम करने से शायद वे अवसन्न न हो जायँ। उन्हें यह सोचना चाहिये कि कर्म कितना स्वास्थ्यप्रद है! अन्य लोग कर्म करने से लज्जित होते हैं, इसे अपने शान के खिलाफ समझ कर इसकी अवहेलना करते हैं। शुद्ध हृदय तथा शुद्ध बुद्धि वाले न तो कर्म से डरते ही हैं और न संकोच ही करते हैं। जिस कार्य को वे आरम्भ करते हैं उसे महत्त्वपूर्ण कर देते हैं। कोई भी आवश्यक कार्य पद-भ्रंशक नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति इसे अवहेलना की दृष्टि से देखता है, तो वह बहुत पहले ही भ्रष्ट हो चुका है। उसके भ्रंश का कारण कर्म नहीं, किन्तु दासत्वपूर्ण दम्भ है।

मनुष्य के लिये मानसिक तथा शारीरिक कर्म उसके महत्त्व को सूचित करते हैं। कार्य से डरने वाले आलसी तथा इससे लज्जित होने वाले दम्भी, दोनों यदि दरिद्र नहीं हैं तो दरिद्रता के मार्ग पर अवश्य हैं। कार्य से प्रेम करने वाला अध्यवसायी तथा कार्य को महत्त्व देने वाला गौरवशाली पुरुष यदि, सम्पन्न नहीं तो समृद्धि के मार्ग पर निस्संदेह है। निकम्मा मनुष्य दरिद्रता तथा पाप के ओर

दम्भी अपमानित तथा लज्जा के बीजों का रोपण किया करता है। उद्योगी पुरुष सद्गुण तथा उन्नति के और सम्मानित कार्यकर्ता मान तथा विजय के बीज बोया करता है। कर्म ही बीज है। उचित समय पर शस्य-संचय होगा।

बहुत थोड़े से परिश्रम से ही प्रचुर धन-संचय की इच्छा एक प्रकार की चोरी है। बिना कार्य किये कार्य-फल की अभिलाषा करना दूसरों के कर्म-फलों का अपहरण करना है। बिना द्रव्य का पर्याय दिये हुये उसे पाने का प्रयत्न केवल पर-सम्पत्ति का हरण करना है। चरम-सीमा-गत इसप्रकार की मानसिक धारणा, यदि चोरी नहीं तो फिर चोरी किस चिड़िया का नाम है ?

आइये ? हम सब लोग अपने कार्य से आनन्द प्राप्त करें ? इस बात पर हर्ष मनायें कि, कार्य के लिये हमारे पास बल और योग्यता है। उस बल तथा योग्यता को अविरल कर्म के लिये बढ़ाते रहें। यदि हम अपने कार्य-का चाहे वह जिस किसी का हो—गौरव के साथ करते हैं तो वह महत्त्वपूर्ण है और अखिल संसार भी उसे आदर्श-पूर्ण की दृष्टि से देखेगा। सुशील पुरुष के अंश में जो काम

पड़ता है, उसे वह घृणा की दृष्टि से नहीं देखता है। जो कर्मशील है, श्रमित नहीं होता। जो कार्यनिष्ठ, सहनशील तथा दारिद्र्य अवस्था में भी सन्तुष्ट हैं, वे अवश्य अन्तिम काल में अपने कर्मफल के भागी होंगे। तथैव यदि वह परिश्रम करने पर भी असफल मनोरथ होता प्रतीत होता है तो आनन्द उसका चिर-संगी होगा। क्योंकि 'वे लोग धन्य हैं जो अपने निश्चित कार्म में रत हैं, उन्हें किसी अन्य सुख की इच्छा न करनी चाहिये।

# सदाचार और शिष्टता

पशु से सम्पूर्ण संस्कृति दूर होती जा रही है विकाश शुद्धि-क्रम है। विकाशपूर्ण नियमों में ही समाज के अलिखित नियम अन्तर्हित हैं।

शिक्षा मानसिक संस्कृति है। विद्वान निज बुद्धि को उत्तम बनाने में रत रहता है। उसीप्रकार धर्मशील भक्त अपने हृदय को शुद्ध तथा निर्दोष बनाने में।

जब मनुष्य उदात्त कार्यों की आकांक्षा करता है—और अपने आदर्श-प्राप्ति का प्रयत्न आरम्भ कर देता है,

तो उसकी चरित्र-शुद्धि होने लगती है। जो मनुष्य अपने अन्तःकरण को जितना शुद्ध बनाता है, उतना ही शुद्ध, सुन्दर तथा सौम्य उसका वाह्य आचरण होता है।

सदाचार नैतिक आधार पर अवलम्बित है। यह धर्म से विलग नहीं किया जा सकता। दुराचारिता तथा दोष में अभिन्न सम्बन्ध है। क्योंकि दुराचार तो अन्तर्दोषों का ही सत्यरूप है। मनुष्य का कार्य उसको वास्तविकता का द्योतक है। धृष्टतापूर्वक कार्य करने वाला धृष्ट, मूर्खता पूर्वक करने वाला मूर्ख और शिष्टतापूर्वक करने वाला शिष्ट होता है। यह विचार ठीक नहीं कि किसी असभ्य अमानुषिक व्यवहार वाले मनुष्य का हृदय सौम्य और शिष्ट हो सकता है ( यह बात हो सकती है कि उसके पास कुछ पाशविक शक्तिशाली गुण है ) परन्तु वह सौम्य कभी नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य तो केवल अन्तर का व्यक्त रूप है।

मोक्ष प्राप्त करने के लिये बुद्ध भगवान के अष्टपाद साधनों में से एक पाद है, सदाचार अथवा सद्व्यवहार। यह बात सबको साफ-साफ मालूम हो जानी चाहिये

कि जिस मनुष्य ने दूसरों के प्रति दया, नम्रता तथा त्याग-वृत्ति के साथ बर्ताव करना नहीं सीखा—वह अभीतक पवित्र जीवन के मार्ग पर नहीं आया।

यदि कोई मनुष्य अपने हृदय को शुद्ध बनाता है तो वह अपने आचरण को सुधार लेगा। और यदि वह अपने आचरण को ठीक करता है तो यह उसके हृदय-शुद्धि के लिये सहायक होगा।

असभ्यता, पाशविकता तथा दंशनशीलता केवल एक पशु के लिये उपयुक्त हो सकती है, परन्तु एक मनुष्य को यदि वह समाज का साधारण अंग भी होने का दावा करता है तो, अपनी पाशविक वृत्तियों से मुक्त होना होगा।

गान, चिकित्सा, कविता और सदाचार आदि जो मनुष्य को उन्नत करने के साधन है, सब-के-सब उत्कर्ष के भृत्य तथा दूत हैं। मनुष्य पशु का अनुसरण करने पर पततोन्मुख होता है। हमें असभ्यता को सादगी का और अशिष्टता को सत्यता का पर्याय न समझना चाहिये।

दूसरों के प्रति आचरित किये हुये त्याग, दया तथा परहित-दत्तता का व्यक्त रूप सौम्यता, दाक्षिण्य और

शिष्टता है। इन गुणों का उत्कट प्रदर्शन चाहे, सफलता के रूप में मालूम हों परन्तु वास्तव में सफलता नहीं मिलती।

मिथ्याचर्या तथा कपट विडम्बना का पोल तुरन्त खुल जाता है। शीघ्र या विलम्ब में प्रत्येक मनुष्य उनके पोलेपन को आंक लेता है। और अन्त में कपटी लोग ही धोखे में पड़ते हैं।

त्याग और सुन्दर आचरण, केवल सदाचार ही के नहीं, किन्तु निति-धर्म तथा सत्य-जीवन के मूल कारण हैं। वे शक्ति और कला के प्रतिरूप हैं। स्वार्थी और अशिष्ट मनुष्य विचार-प्रयोग में निर्बल तथा अकुशल होता है। त्याग और शिष्टता, विचार करने और कुशलतापूर्वक कार्य करने की सुन्दर पद्धति है।

लोगों का यह सोचना महान भूल है कि जीवन के साधारण कार्यों से उच्च तथा आदर्श जीवन का कोई सम्बन्ध ही नहीं। इसलिये उनकी परवाह न करने अथवा उन्हें मनमाने ( अपरिष्कृति रूप से ) कर देने का यह अर्थ होगा कि हम "उच्च वस्तुओं" में तल्लीन हैं। इससे तो केवल यही सूचित होगा कि मस्तिष्क, निर्दोष,

सावधान और बलवान होने के स्थान में दोषयुक्त, प्रमत्त तथा निर्बल होता जा रहा है। हस्तगत कार्य चाहे कितना ही उपेक्षणीय क्यों न हो परन्तु उसके सम्पादन की पद्धति अच्छी भी होगी और बुरी भी। उसे सुचारू रूप से सम्पादित करने पर समय की बचत होती है। परेशानी तथा झँझट से जान बचती है। शक्ति का ह्रास नहीं होता। गुण, कौशल तथा सुख की प्राप्ति होती है।

शिल्पी अपने कला-विशेष के सम्पादनार्थ अनेक प्रकार का यन्त्र रखता है। उसे यह शिक्षा दी जाती है और अनुभव से उसे यह ज्ञात भी हो जाता है कि प्रत्येक यन्त्र कार्यविशेष के लिये ही उपयुक्त होता है। किसी भी दशा में एक यन्त्र दूसरे के स्थान पर कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक यन्त्र का उपयोग उचित स्थान और उचित रीति से करने पर अधिक से अधिक कौशल तथा शक्ति प्राप्त होती है। यदि कोई बालक अपना व्यवसाय सीखते समय, शिक्षा न ग्रहण करे, मनमाना यन्त्रों का प्रयोग करके एक यन्त्र का कार्य

दूसरे से लेता जाय तो उसे उस व्यवसाय में सफलता न मिलेगी—वह सदैव मन्द, प्रमादी और काम से जी चुराने वाला बना रहेगा।

जीवनपर्यन्त यही दशा रहती है। यदि कोई आदमी शिक्षा लेना चाहता है और प्रत्येक चीज को उचित तथा न्याययुक्त पद्धति से करना सीख जाता है, तो वह बलवान, कुशल और बुद्धिमान होकर अपना तथा अपने विचारों और कार्यों का स्वामी बन बैठता है। परन्तु यदि वह दृढ़ाग्रह के साथ अपनी क्षणिक प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होता जाता है—अपनी बुद्धि का उचित प्रयोग न करके जो मन में आता है वही करता जाता है—शिक्षा को ठुकराता जाता है—तो समझ रखिये उसका जीवन मन्द और प्रमादी ही होगा।

कनफ्यूसियस—वस्त्र, भोजन, व्यवहार, क्षणिक वार्तालाप और जीवन के छोटे से छोटे कार्यों पर उतना ही अधिक ध्यान देता था, जितना कि महत्वपूर्ण राजनैतिक कार्यों और अपने द्वारा नियत नैतिक सिद्धान्तों पर। उसने अपने शिष्यों को यह शिक्षा दी कि किसी

काम को, जो जीवन के लिये आवश्यक है 'तुच्छ' समझना मूर्खता तथा असभ्यता है। बुद्धिमान पुरुष अपने प्रत्येक कर्तव्य की ओर ध्यान देता है और प्रत्येक चीज को बुद्धिमानी के साथ विचारपूर्वक और उचित रीति से करता है।

समाज की यह स्वच्छन्द आज्ञा नहीं है कि जो व्यक्ति चाकू को भोजन करने का यन्त्र बनायेगा, वह बहिष्कृत कर दिया जायगा, क्योंकि चाकू काटने के लिये और चिम्मच भोजन करने के लिये ही बनाया गया है। और जीवन के क्षणिक विषयों में भी वस्तुओं का प्रयोग अनुचित तथा असभ्यतापूर्वक करने से उत्कर्ष नहीं होता। इससे पतन होता है और परेशानी उठानी पड़ती है।

जबतक कोई व्यक्ति दूसरों के प्रति दयापूर्वक विचार तथा व्यवहार नहीं करता, उसे स्वर्ग-प्राप्ति न होगी। उसे वाह्य दुःख और अशान्ति में फँसा रहना पड़ेगा, क्योंकि स्वार्थपरता ही तो अशान्ति और भ्रममूलक है। संसार निर्दोषता पर ही अवलम्बित है।

यह नियम पर स्थापित है। यहाँ उचित रीति से कार्य करने की आवश्यकता है। ज्ञान-जिज्ञासु अपने प्रत्येक मार्ग का अन्वेषण कर लेगा। वह अपने सम्पूर्ण आचरण, बाहर और अन्दर से शुद्ध कर पवित्रतापूर्वक विचार करेगा, सौम्यता से वार्तालाप करेगा और प्रसन्नतापूर्वक कार्य करेगा।

# धर्मों की विभिन्नता

जो लोग वाह्य धार्मिक आडम्बरों के स्थान पर जन-साधारण से विमुक्त होकर उच्च जीवन सम्बन्धी मौलिक अन्वेषण करते हैं, उनका घमण्डरूपी अन्धकूप में, जो ऐसे लोगों की प्रतीक्षा करता रहता है—गिरना अवश्यम्भावी है। जो यह समझने लगते हैं कि उनके बराबर आध्यात्मिक प्रकाश पाने वाला कोई नहीं, उनके लिये अन्य धर्मों पर आक्रमण करना ( रूढ़ि-प्रेमियों की निन्दा करना, मानों रूढ़ि-प्रेमी दोष का पर्याय है )

साधारण सी बात हो जाती है। रूढ़ि से विलग होने का अर्थ पाप से मुक्त होना कदापि नहीं है। निःसन्देह सनातन-धर्म से विलग होने वाला प्रायः अधिक कटु और अपमानकारक होता है। मन-परिवर्तन और बात है तथा हृदय-परिवर्तन कुछ और। धर्म से अपनी श्रद्धा हटा लेना सरल है परन्तु अपने को पाप से मुक्त करना बहुत कठिन है।

वास्तव में रूढ़ि और अनुमति नहीं, किन्तु घृणा और अहङ्कार ही त्याज्य है। पर-धर्म नहीं किन्तु निज पाप ही घृणास्पद है। बुद्धिमान पुरुष इसलिये घमण्ड न करेगा कि दूसरों की अपेक्षा वह अधिक अनुभव-शील है, अधिक उच्च स्थान पर है—जो ऐसे नाम-मात्र के धर्म के दास अभी तक बने हैं, जिसको कि उसने छोड़ दिया है। दूसरों के प्रति संकुचित, स्वमतान्ध और स्वार्थी आदि शब्द प्रयोग करने से बुद्धिमत्ता नहीं सूचित होती। कोई भी इन शब्दों का प्रयोग अपने प्रति अच्छा न समझेगा। धार्मिक लोगों को दूसरों के प्रति ऐसे शब्दों का प्रयोग न करना

चाहिये, जिसके प्रयोग से वे स्वयं दुःखी होते हैं।

जो दया तथा नम्रता-प्रदर्शन करना सीख रहे हैं, वे ही सचमुच बुद्ध हैं। वे अपने को तुच्छ समझते हैं। दूसरों के प्रति दया दिखाते हैं। अपने दोषों की निन्दा कठोर तर्क द्वारा किया करते हैं। अपराधों को दया-दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार वे प्रकृति तथा वस्तुओं की व्यवस्था को समझने के लिये ज्ञानचक्षु प्राप्त करते हैं, जिससे वे अन्य लोगों की तथा अन्य धर्मों की वास्तविकता ज्ञात करने में समर्थ होते हैं। अपने अन्य धर्मावलम्बी तथा नियम-मात्र पूजक अनेक पड़ोसी को घृणा की दृष्टि से नहीं देखते। अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का होना आवश्यक है। जो अनेक धर्म-विशेष के प्रति निष्ठा रखते हैं और अपने समीपवर्ती के धर्म-पालन में प्रतिरोध नहीं करते, जो अपने पड़ोसी के धर्म-कर्तव्य की निन्दा नहीं करते, वे ही संसार को पूर्ण शान्ति की ओर अग्रसर कर सकते हैं।

सब विभिन्न धर्मों में प्रेम रूपी ऐक्य-शक्ति है। प्रेमी जन सब धर्मों की सानुकम्प एकता में प्रवेश कर चुके हैं।

जो लोग धर्म के मौलिक तत्त्व को जान गये हैं, जिनका ज्ञानचक्षु खुल गया है, जिनका हृदय गहरे दया दाक्षिण्य-वृत्ति में प्लुत है, वे कलह तथा पर-निन्दा को पास न फटकने देंगे, अपने मत की प्रशंसा-रूपी भ्रान्ति में न फँसेंगे। इस बात को साबित करने का प्रयत्न न करेंगे कि उनका ही मत सर्वश्रेष्ठ है। और वे दूसरे मतों का अपमान करके अपने धर्म को उच्च बनाने का प्रयत्न न करेंगे। जिसप्रकार सत्यवादी पुरुष अपनी तथा अपने कार्य की बड़ाई नहीं करता, उसीप्रकार विनम्र तथा दया-लशी पुरुष अपने मन को सर्वोपरि करने का प्रयत्न नहीं करता और न तो दूसरे के पवित्र धर्मों का छिद्रान्वेषण करके अपने धर्म-विशेष को उन्नत करने के फेर में रहता है।

अपने धर्म की बड़ाई और दूसरे के धर्म की निन्दा न करनी चाहिये, प्रत्युत अन्य धर्मों का सम्मान करना चाहिये। सम्मान का कारण चाहे जो कुछ भी हो परन्तु इस प्रकार बर्तने से अपने धर्मका ह्रास होगा और दूसरे धर्म का लाभ। विपरीत आचरण होने पर तथा दूसरे का अहित करनेपर अपने धर्म का लोप

हो जाता है। जो कोई परधर्म की निन्दा करके अपने धर्म का विज्ञापन करता है, वह वास्तव में अपने कर्म के प्रेमवश और उसकी ख्याति दूर तक फैलाने के लिये ही करता है। यह अन्धकारमय तथा प्रगाढ़ भ्रम है, जिससे आकृष्ट होकर लोग यह सोचते हैं कि वे पर-धर्मों के छिद्रान्वेषण से अपने धर्म की सेवा कर सकते हैं। सब से दयनीय बात तो यह है कि सदैव सनातन धर्मों की निन्दा कर, उन्हें समूल नष्ट करके अन्य लोगों को अपना मतावलम्बी बनाने के आनन्द में, अपने ही मत को बद-नाम तथा नष्ट करने के चिन्तनीय कार्य में लीन रहते हैं।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति दूसरों पर मिथ्याक्षेप कर प्रत्येक बार अपने चरित्र तथा उत्कर्ष पर स्थायी आघात करता है, उसी प्रकार दूसरे मतों की निन्दा करके वह प्रत्येक बार अपने धर्म को तुच्छ तथा कलुषित बनाता है। अन्य धर्मों पर आक्रमण और दोषारोपण करनेवाला वही मनुष्य होता है, जो अपने धर्म को अपमानित तथा उस पर आक्रमण होते देख बहुत दुःखी होता है। यदि कोई मनुष्य अपने धर्म पर किये गये आक्षेपों को सहन

नहीं कर सकता तो उसे ध्यान रखना चाहिये कि वह अन्य धर्मों पर भी आक्षेप न करे। यदि उसे अपने धर्म की प्रशंसा और सहायता भाती है तो यह उसका कर्तव्य है कि वह अन्य धर्म की—जो वाह्य रूप से भिन्न होते हुये भी (उसी के धर्म की तरह) श्रेष्ठ आदर्श को अपने सामने रखता है—सहायता तथा प्रशंसा करे। इस प्रकार साम्प्रदायिक जीवन के दुःखों तथा दोषों से मुक्त होकर वह दैवी त्याग तथा दान में भी अपने को दक्ष बना लेगा।

वह हृदय, जो सौम्यता तथा त्याग को अपना चुका है, उन अन्ध-विकारों से मुक्त हो जाता है, जो पक्षपात-मय कलह, प्रचंडता, उत्पीड़ा और कटुता की अग्नि को प्रत्येक युग में प्रज्ज्वलित रखते हैं। यह (हृदय) दया तथा कोमलता के विचारों में निवास करता है। न किसी का अनादर करता है और न किसी से घृणा, किसी से वैर नहीं मोल लेता। सौम्यजन ईश्वरीय-नियम की उस तह को जान लेते हैं, जो अन्य प्रकार से नहीं जानी जा सकती। वह सब धर्मों तथा सम्प्रदायों में अच्छाई ही पाता है और उन अच्छाइयों को अपना लेता है।

सत्यान्वेषियों को मतों तथा द्वेषयुक्त भेदों का त्याग करना चाहिये। उन्हें त्याग के लिये प्रयत्न-शील होना चाहिये। त्यागी तथा दयाशील लोग मिथ्याक्षेप, परोक्ष-निन्दा और दूसरों पर दोषारोपण करने से बिलकुल दूर रहते हैं। ये अन्य धर्म को कुचलकर अपने धर्म की उन्नति नहीं चाहते।

सत्य अपना प्रतिवाद नहीं कर सकता। निर्दोषता, वास्तविकता तथा अटल ध्रुवत्व ही सत्य का स्वाभाविक गुण है। तब धर्मों तथा मतों में अनन्त विरोध क्यों ? क्या यह भूल के कारण नहीं हैं ? प्रतिवाद तथा कलह तो दोष के साम्राज्यान्तर्गत हैं क्योंकि दोष भ्रमात्मक होने से निज विरोधी होता है।

यदि इसाई धर्मवाले अपने धर्म को सत्य और बौद्धधर्म को झूठा करार देते हैं और बौद्धधर्म वाले अपने धर्म को सत्य और इसाई धर्म को मिथ्या बताते हैं तो हमारे सामने एक असान्त्वनीय विरोध खड़ा हो जाता है—क्योंकि दोनों धर्म सच्चे और साथ-ही-साथ झूठे नहीं हो सकते। परन्तु यदि ये दोनों

धार्मिक सम्प्रदाय यह कहें या विचारें कि वास्तव में विरोध का कारण दोष है, परन्तु दोष उनमें या उनके धर्म में नहीं किन्तु दूसरे मनुष्य में तथा उसके धर्म में है, तो उससे विरोध और बढ़ जाता है। तब दोष की जड़ क्या है ? और सत्य कहाँ है ? क्या इन व्यक्तियों के दृष्टिकोण में दोष नहीं है ? यदि वे अपने अपने दृष्टिकोण को बदल दें—यदि बैर का स्थान उदारता को दे दें— तो क्या उन्हें वह सत्य भासित न होगा जो पारस्परिक विरोध से शून्य है ?

जो व्यक्ति अपने धर्म को सत्य बतलाता है। और दूसरे धर्म को मिथ्या, उसने वास्तव में अपने धर्म के मूल सार को नहीं जान पाया है—क्योंकि सार वस्तु के पाने पर वह सब धर्मों में सत्य का प्रकाश पाता है। जिस प्रकार विश्व के अखिल द्रष्टव्य विषयों में केवल एक ही सत्य है, उसीप्रकार सब धर्मों तथा मतों में केवल एक धर्म है। क्योंकि सब धर्मों की नैतिक शिक्षा अभिन्न है—और सब महात्माओं ने केवल एक ही सार वस्तु का उपदेश दिया है।

ईसामसीह द्वारा दिये हुये पर्वत पर के धर्म-प्रवचन के उपदेश सब धर्मों में मिलते हैं। और सब महात्मा तथा उनके अनुयायियों ने उन्हीं उपदेशों के अनुसार ही अपने जीवन को बिताया। क्योंकि शुद्ध हृदय तथा दोषरहित जीवन ही सत्य है। सिद्धान्तों तथा मत-समूहों में सत्य नहीं। हृदय शुद्धि, जीवन की पवित्रता, करुणा प्रेम तथा परहितेच्छा के ऊपर ही सब धर्म दीक्षा देते हैं। वे सुकर्म करने का और पाप तथा स्वार्थपरता त्यागने का उपदेश देते हैं। ये बातें, सिद्धान्त ईश्वर-शास्त्र तथा मतों से कुछ सम्बन्ध नहीं रखतीं। ये क्रियात्मक हैं, अभ्यास करने के लिये हैं और जीवन में व्यवहार के रूप में आचरणीय हैं। लोगों में इन बातों पर मतभेद नहीं होता क्योंकि वे तो प्रत्येक मत द्वारा प्रतिपादित सचाइयाँ हैं। तब आखिर मतभेद किस बात के लिये होता है? केवल मीमाँसा तथा ईश्वर-शास्त्रों के विषय में ही।

लोग सच्ची बातों के विषय में नहीं वरन् झूठी बातों के विषय में मतभेद करते हैं। वे सत्य पर नहीं

वरन् दोषों पर कटते मरते हैं। सब धर्मों का तथ्य यह है कि सत्य के विषय में कुछ जानने के पहिले प्रत्येक व्यक्ति अपने भाइयों से कलह करना छोड़ दे और उसके साथ प्रेम तथा उदारतापूर्वक वर्ताव करे। किसी व्यक्ति के लिये यह करना उस समय तक कैसे सम्भव होगा जबतक वह अपने पड़ोसी के धर्म को झूठा समझकर उसे समूल नष्ट कर देना अपना परम कर्तव्य समझता है ? यह दूसरों के प्रति उस व्यवहार का प्रदर्शन नहीं है जिसकी आशा हम अन्य तरीके से अपने प्रति करते हैं।

सत्य और वास्तविकता सब देश और सब काल में अपने ही रूप में रहती है। पवित्र इसाई और पवित्र बौद्ध में कुछ भी अन्तर नहीं। दोनों में हृदय की शुद्धता, जीवन की पवित्रता, निर्दोष आकाँक्षायें और सत्य-प्रेम पाये जाते हैं। बौद्धधर्मावलम्बी के सुकर्म एक इसाई के सुकर्म से भिन्न नहीं। पाप के लिये प्रायश्चित्त दुर्विचार तथा दुष्कर्म के लिये चिन्ता केवल इसाइयों के हृदय में ही नहीं वरन् सब धर्मावलम्बियों के हृदय में

उत्पन्न होती है। सहृदयता की बड़ी आवश्यकता है। प्रेम अनिवार्य है।

एक ही प्रकार के मौलिक सिद्धान्तों के कारण सब धर्म एक है। किन्तु मनुष्य इन सत्यों में रत नहीं होता। वह उन वस्तुओं के मतों तथा मीमाँसाओं में उलझता है— जो अनुभव तथा ज्ञान की सीमा के परे हैं—जो केवल अपने मत-विशेष की रक्षा तथा प्रचार में ही फूटते हैं और परस्पर मुठभेड़ करते हैं।

दोषारोपण प्राथमिक उत्पीड़न है। "मैं अच्छा हूँ तुम बुरे" यह विचार घृणास्पद है। इसी बीच विश्व-व्यापक सत्यता को पाकर मनुष्य अहङ्कार छोड़ देता है, दोषारोपण रूपी घृणास्पद ज्वालाओं को शान्त कर देता है। अपने हृदय से "सब दोषी हैं" इस दूषित विचार को निकाल कर "केवल मैं ही दोषी हूँ" इस प्रकाश-मय विचार को अपनाते हैं। ऐसा सोचने के पश्चात् वह पाप-मुक्त हो जाता है। सब के साथ उदारता तथा प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है। भेद भाव नहीं उत्पन्न करता और फिर्केबन्दी से दूर रहता है। शान्ति

का इच्छुक होता है न कि पक्षपाती । इसप्रकार त्यागमय जीवन व्यतीत करता हुआ सबसे प्रसन्न रहता है। वह सर्वमय हो जाता है। उसे विश्व-व्यापक सत्य भासित हो जाता है। क्योंकि जहाँ एक दोष दूसरे दोष का विरोध करता है और स्वार्थपरता फूट फैलाती है, वहाँ सत्य सत्यता को भासित करता है और धर्म एकीकरण का कारण होता है।

# नियम और चमत्कार

अद्भुत वस्तुओं के साथ प्रेम करना मनुष्य-स्वभाव का एक प्रत्यङ्ग है। उनको नत करना, शासित करना और अन्त में रूपान्तर करना अत्यावश्यक है। ऐसा न करने पर अन्धविश्वास, ज्ञान और बुद्धि के तेजोहरण से छुटकारा नहीं मिल सकता? और नियम के वैध, नित्य तथा लाभप्रद गुण का दर्शन करने तथा ज्ञान-जनित शान्ति और अटलता का उपभोग करने के पहिले आश्चर्य-जनित विचार का उल्लंघन करना पड़ेगा।

जिसतरह एक बालक इस संसार के प्रतिबोध-विषयों का प्रथम दर्शन करने पर आश्चर्यान्वित हो उठता है और परियों तथा राक्षसों सम्बन्धी किस्सों में अजीब क्रीड़ोत्सव करने लगता है, उसीप्रकार जब कोई पहली बार अपनी मानसिक दृष्टि द्वारा आध्यात्मिक वस्तुओं का दर्शन पाता है तो चमत्कारी और अद्भुत कहानियों में संलग्न हो जाता है। और जिसप्रकार बालक तरुण होने पर अपने समीपस्थ प्रतिबोध-विषयों के स्वभाव के सापेक्षत्व को उचित रीति से समझकर लड़कपन के अशिष्टताओं का त्याग कर देता है, उसीप्रकार पूर्ण आध्यात्मिक विकाश होने पर और अपनी आन्तरिक वास्तविकताओं से गाढ़ा परिचय कर लेने पर, मनुष्य अपने बालोचित चमत्कारी युग को पीछे छोड़, वस्तुओं की सच्ची व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में आता है। और अपने जीवन को निश्चित तथा अटल सिद्धान्तों द्वारा नियमित कर लेता है।

नियम विश्वव्यापक तथा नित्य है। यद्यपि ज्ञान का अनन्त क्षेत्र अभी तक प्रकाश की प्रतीक्षा कर रहा है,

तथापि कारण और परिणाम सदैव व्यापक रहेंगे, और प्रत्येक नवीन आविष्कार, प्रत्येक प्रकाशित सत्य, मनुष्यों को सौन्दर्य, स्थैर्य तथा नियम-महत्ता के अधिकाधिक अनुभव में सहायता देते रहेंगे। यह बड़े हर्ष की बात है कि प्रकृति के प्रत्येक विभाग में नियम नित्य तथा अभेद्य है। क्योंकि ऐसा होने पर संसार का क्रियाकलाप सदैव एक तुल्य रहेगा और फलतः इसका आविष्कार, ज्ञान तथा अनुसरण हम कर सकेंगे। यह अटलता का कारण होने से, आशा तथा प्रसन्नता का हेतु है। चमत्कारी विचार तो नियम का निषेधीकरण तथा निरंकुश और अस्थिर शक्ति का प्रतिरूप है।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार के बड़े-बड़े महात्माओं के जीवन-चरित्र के साथ-साथ विचित्र-विचित्र कहानियाँ उद्भूत हुई हैं, परन्तु इनकी रचना का उत्तरदायित्व उन महात्माओं पर नहीं, वरन् अविकसित विचार वाले पुरुषों पर है। लेवोट्स्ब ने ईश्वीय-नियम अथवा 'बुद्धि' की व्याख्या की थी, जिसमें चमत्कार के लिये स्थान नहीं है, किन्तु अद्भुत चमत्कारों से मिश्रित होकर वह आजकल

इतना दूषित हो गया है कि उसमें और मूर्ख कल्पना-समूह में कोई अन्तर नहीं रह गया है। बौद्ध-धर्म प्रवर्तक ने भी यह घोषित कर दिया था कि 'इस बात को जानते हुये कि सब वस्तुयें कर्म-विपाक (कार्य-कारण) द्वारा प्रचलित होती हैं, जो भिक्षु चमत्कार प्रदर्शनार्थ यत्न करता है, उसने वास्तव में उस सिद्धान्त को नहीं समझा' और 'दम्भ तथा लोभही चमत्कार-प्रदर्शन की इच्छा के मुख्य कारण हैं।' अपनी दूषित दशा में अपने प्रवर्तक के जीवन को चमत्कारपूर्ण कहानियां द्वारा अच्छादित कर लिया है। भरतीय महात्मा रामकृष्ण, जो१८६० में स्वर्ग-वासी हुये, अपने शिष्यों द्वारा इस प्रथा के ईश्वरीय अव-तार माने जाते थे। उनके जीवनकाल ही में लोग उन्हें नाना प्रकार के चमत्कारों से भूषित करते थे और वे सब आजकल उनके नाम के साथ संयुक्त कर दिये गये हैं। मैक्समूलर के मतानुसार ये चमत्कार निराधार हैं; इनमें वास्तविकता नहीं। स्वयं रामकृष्ण ही चमत्कार का उपहास तथा निराकरण करते थे।

जैसे मनुष्य में अधिकाधिक ज्ञान प्रकाश होता जाता

है, चमत्कार तथा अद्भुत कार्य धर्म से विलग होते जाते हैं, और नियम का सुव्यवस्थित सौन्दर्य और नियम-पालन की नैतिक प्रभा, प्रकाशित तथा ज्ञात होती जाती है। जो मनुष्य चमत्कार तथा आध्यात्मिक विचित्रताओं के प्रदर्शन की इच्छा करता है, जो अदृष्ट तथा दैवी प्राणियों को देखने के लिये उत्सुक हैं। अथवा जो 'स्वामी' या 'सिद्ध' बनने की आकांक्षा करते हैं—वे उच्चकोटि के जीवन तथा सत्य का दर्शन नहीं कर सकते। वस्तुओं के प्रति बालकोचित आश्चर्य को उसके वास्तविक ज्ञान द्वारा समूल नष्ट कर देना चाहिये। जो प्रेमी हृदय, सहनशीलता तथा दया-प्राप्ति के लिये अभ्यास करता है, वह सत्य मार्ग पर है। सच्चे महात्मा का लक्षण चमत्कार तथा विचित्रता नहीं, वरन् अनन्त क्षमाशीलता, निस्सीम करुणा, निर्दोष-शुद्धता और सर्व-प्रेमी हृदय है।

# युद्ध और शान्ति

आन्तरिक कलह युद्ध की जननी है। पृथ्वी मण्डल पर की लड़ाई ( स्वर्गलोक की लड़ाई ) कि अनुगामिनी है। जिस समय आध्यात्मिक स्वरैकता, संघट्ट ( कलह ) नष्ट हो जाती है तो अपने को युद्ध के रूप में व्यक्त करती है। आन्तरिक कलह के बिना बाह्य युद्ध असम्भव है। आन्तरिक शान्ति का पुनर्स्थापन जबतक नहीं होता, तबतक लड़ाई समाप्त नहीं होती।

आक्रमण और प्रतिरोध ये ही दोनों युद्ध के मुख्य

तत्त्व हैं। युद्ध आरम्भ होने पर दोनों प्रतिद्वन्द्वी, आक्रमण-कारी तथा प्रतिरोधी हो जाते हैं। बलात् युद्ध समाप्त करने के प्रयत्न से ही युद्ध उद्भूत होता है। कुछ समय हुआ एक व्यक्ति ने कहा—'मैंने संग्राम-शक्ति के विरुद्ध बड़ी दृढ़ता के साथ मोर्चा लिया है।' उसे यह नहीं मालूम हुआ कि उस दृष्टिकोण से वह युद्धदेवी की उन्नति करके उनका पुजारी हो रहा है।

युद्ध का विरोध करने से युद्ध की उत्पत्ति होती है। शान्ति के लिये लड़ाई असम्भव है। क्योंकि लड़ाइयों से शान्ति भंग होती है। युद्ध को, विरोध तथा निर्भत्सना-द्वारा शान्त करने की आशा तो अग्नि को ईन्धन डाल कर बुझाने की आशा के तुल्य है। अतः वास्तविक शान्ति-प्रेमी युद्ध का प्रतिरोध नहीं करता, वह तो शान्ति की उपासना करता है। युद्ध का उत्तरदायित्व उसी के ऊपर है, जो लड़ाई में भाग लेकर आक्रमण तथा रक्षण करता है—क्योंकि उसके मन में युद्ध सदैव जारी है। शान्ति-प्रिय वही है, जिसने अपने दिमाग से उद्दण्ड तथा पक्ष-जन्य-कलह की वृत्तियों को ठुकरा दिया है—जिसने

न तो दूसरों पर आक्रमण किया है और न अपनी रक्षा। और जिसका हृदय विश्व-प्रेमी है। ऐसे आदमी ने अपने हृदय में शान्ति-साम्राज्य को स्थापित कर लिया है। सर्व परिस्थितियों में शान्ति का पुजारी तथा विश्वप्रेमी होने के कारण वह शान्ति-स्थापक है।

शान्ति-वृत्ति अत्युत्तम है। इसका कहना है, "आइये, विश्राम लीजिये।" शान्ति-स्थापक का कर्तव्य है कि वह विवाद, कलह और पक्ष-जन्य फूटों को सदैव के लिये त्याग दे।

जबतक मनुष्य व्यक्तिगत रूप से वासनाओं के वश में रहेगा तबतक लड़ाई नहीं बन्द हो सकती। आन्तरिक संक्षोभ जब शान्त हो जायगा तभी वाह्य संत्रास बन्द होगा।

स्वार्थ महान् शत्रु है, यह सब कलहों का उत्पन्न करने वाला और सब चिन्ताओं का मूल कारण है। इसलिये पृथ्वीपर शान्ति की स्थापना करने वाले को चाहिये कि वह अहंमन्यता को जीत ले, वासनाओं का नाश कर दे और आत्म-विजयी हो जाय।

# मनुष्य-जाति का भ्रातृत्व

'विश्व-भ्रातृत्व' विषयक लेखों तथा उपदेशों की कमी नहीं। बहुत से नवजात समाजों ने तो इसे अपना धर्म-मान लिया है। परन्तु जो इस क्षण में अत्यावश्यक है, वह विश्व-भ्रातृत्व नहीं, वरन् एक 'भ्रातृत्व विशेष' अर्थात् जो हमारे संसर्ग में प्रतिदिन आते हैं, जो हमारा विरोध प्रतिरोध तथा हमपर आक्रमण करते हैं, और जो हमारे पक्षपाती तथा प्रेमी हैं—उन सब के प्रति उदार, त्याग तथा दयावृत्ति का प्रदर्शन।

'बिना भ्रातृत्व-विशेष के, विश्वभ्रातृत्व एक अर्थहीन शब्द-मात्र होगा' मेरे इस कथन से सरल सत्यता का आभास हो रहा है; क्योंकि विश्व-भ्रातृत्व तो आदर्श है—भ्रातृत्व-विशेष, जिसके लिये साधन है। प्रथम उदात्त तथा सर्वोच्च पूर्णता है, द्वितीय उस पूर्णता-प्राप्ति का साधन है।

मुझे स्मरण है। एक बार मैं एक समाचार-पत्र देख रहा था। उसमें विश्व-भ्रातृत्व का उपदेश विस्तारपूर्वक दिया गया था। उस पत्र का सर्वोत्तम, विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण लेख, केवल इस विषय का स्पष्ट प्रतिपादन ही था। दो चार पन्ना उलटने पर मुझे एक दूसरा लेख, उसी लेखक द्वारा लिखित मिला, जिसमें उसने अपने शत्रुओं का नहीं, वरन् अपने ही समाज के ऐसे भाइयों पर ही मिथ्याख्यापन, मिथ्यावाद और स्वार्थपरता का दोष लगाया था, जो कम-से कम इन सब पापों से मुक्त थे।

एक शास्त्र-लेखक का यह प्रश्न है कि 'जो अपने संसर्ग में आनेवाले अपने भाई से प्रेम नहीं कर सकता,

वह अदृष्ट ईश्वर से कैसे प्रेम करेगा?' उसीप्रकार यदि मनुष्य अपने संग के भाइयों से प्रेम नहीं करता, वह विभिन्न धर्मानुयायियों तथा विभिन्न राष्ट्र-निवासियों के साथ प्रेम कैसे करेगा ?

विश्व-भ्रातृत्व पर लेख लिखना और बात है तथा अपने सम्बन्धियों तथा समीप वासियों के साथ शान्तिपूर्वक रहकर बुराई के बदले भलाई करना कुछ और।

अपने हृदय में द्वेष, पर-अपमान, क्रोध, डाह तथा घृणा की चिनगारियाँ प्रज्वलित रखकर, विश्व-भ्रातृत्व का प्रचार करने का यत्न केवल अपने को भ्रम में डालना है। क्योंकि इसप्रकार हम अपने ही द्वारा प्रशंसित शब्दों को अपने कर्मों द्वारा प्रतिबाधित तथा खंडित करते रहेंगे। किन्तु यह आत्म-भ्रम इतना सूक्ष्म है कि ज्ञान तथा प्रेम की चरम सीमा तक बिना पहुँचे, हम सब लगों को इसमें फँस जाने की शंका नहीं रहती।

विश्व-भ्रातृत्व न होने का कारण यह नहीं है कि हमारे बन्धुवर्ग हमारे विचारों से सहमत नहीं, हमारे धर्म

के माननेवाले नहीं अथवा हमारी तरह अनुभव करनेवाले नहीं, उसका कारण केवल द्वेष-वृत्ति की प्रबलता है। यदि हम मतभेद के कारण दूसरों से घृणा करते हैं, उनसे विमुख रहते हैं, उन्हें दोषी ठहराते हैं और अपने सहवर्गियों के साथ स्वार्थपरता तथा कठोरता का व्यवहार करते हैं—तो हम विश्व-भ्रातृत्व के लिये जो कुछ कहते या करते हैं सब हमारे पैर के लिये एक जाल, हमारी आकांक्षाओं के लिये उपहास और अखिल विश्व के लिये प्रहसन के रूप में हैं।

आइये! हम सब लोग अपने हृदय को घृणा तथा डाह से मुक्त कर लें। अपने उन निकटवर्ती सज्जनों के साथ, जो हमारी ( हमारे सौम्यता की ) परीक्षा किया करते हैं, शुभेक्षापूर्ण व्यवहार करें। अपने से घृणा करने वालों के साथ प्रेम करें।

हमारे सिद्धान्त के कारण जो हमपर दोषारोपण करते हैं, उनके ऊपर उदार हों। संक्षेपतः आइये हमीं लोग विश्व-भ्रातृत्व की ओर अग्रगामी हों ; स्थानीय लोगों तथा सहवर्गियों के साथ भ्रातृत्व का व्यवहार

करें, जहाँ पर इसकी परम आवश्यकता है। इन सुप्रसिद्ध विशेष भागों में भ्रातृत्व भाव प्रदर्शन की सफलता मिलते ही विश्व-भ्रातृत्व-भाव हमारे समीपस्थ हो जायगा।

# जीवन सम्बन्धी व्यथाओं पर प्रकाश

अथवा

# जीवन-परिताप या सन्ताप

संसार में महान् परिताप छाया हुआ है। इसकी गणना जीवन की अत्युत्कट वास्तविकताओं में है। शोक और पीड़ा से प्रत्येक हृदय सन्तप्त है। बहुत से लोग जो आज चैन की बंशी बजा रहे हैं, दुराचार में मस्त हैं, कल शोक-सन्तप्त हो जायेंगे। एकाएक बहुत तेजी के साथ चुपचाप, इसका तीखा बाण मनुष्य हृदय को बेध देता है, आनन्द का हनन कर देता है, आशाओं को मिट्टी में मिला देता है। सब संसारी मनसूबों को नष्ट-भ्रष्ट कर

देता है। तब नतमान और पीड़ित आत्मा ध्यान-मग्न हो जाती है और मानव-जीवन के रहस्यों में गंभीरता और सहृदयता के साथ प्रवेश करती है।

दुःख के अन्धेरे समय में मनुष्य सत्य के अति निकट पहुँच जाता है। बहुत काल के परिश्रम से रचित आशायें क्रीड़ागृह की भाँति चकनाचूर हो जाती हैं और तमाम संसारिक सुख विदलित होकर मुट्ठी में लिये हुये जल-बुदबुदे के समान लुप्त हो जाते हैं; तब क्षुब्ध और असहाय आत्मा मूक वेदना में 'अनन्त' को टटोलती है और उसकी स्थायी शान्ति की खोज करती है।

पाश्चात्य ऋषी ( प्रभु ईसा ) के मतानुसार 'शोकित जन धन्य हैं' और प्राच्य ऋषि ( महात्मा बुद्ध ) के अनुसार 'जहाँ पर बहुत दुःख है वहीं बहुत सुख भी है' ये दोनों कहावतें इस सत्य की परिपुष्टि करती हैं कि दुःख शिक्षक और सुधारक है। दुःख जीवन का साध्य विषय नहीं—यद्यपि अपनी पूर्णता पाने पर यह संसारी जीवन के लिये अन्तिम परिणाम हो जाता है। यह दैवी जीवन का आरम्भ है। यह संक्षुब्ध आत्मा को विश्राम तथा अभय

प्रदान करता है, क्योंकि दुःख का परिणाम आनन्द और शान्ति है।

सत्य के बलवान अन्वेषक ? वासना तथा स्वार्थ के कट्टर बैरी ! अल्पकाल तक तुम्हें दुःख भोगना ही पड़ेगा। स्वार्थ का नामोनिशान रहने तक, प्रलोभनों का आक्रमण तुम्हारे ऊपर होता रहेगा, माया का परदा तुम्हारे आध्यात्मिक दृष्टि को मलीन करता रहेगा। जब घोर मेघमाला तुम्हारे आत्मा को आच्छादित कर ले, तो ( तज्जन्य ) अन्धकार को अपना समझकर ग्रहण कर लो, और इसमें से होते हुये बहादुरी के साथ मेघरहित प्रकाश में जा निकलो।

इस बात का ध्यान रक्खो कि तुम्हारे पास कोई भी ऐसी वस्तु नहीं आ सकती, जिसका तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं अथवा जो तुम्हारे अनन्त कल्याण के लिये नहीं। जैसा कि एक कवि ने कहा है—

'जो वस्तु मेरी है उसे कोई मुझसे छीन नहीं सकता। कोई स्थान नहीं, जहाँ वह छिपाई जा सके। कोई काल नहीं जो उसे नष्ट कर सके। और न तो आकाश और

पाताल ही अपने यहाँ शरण दे सकते हैं।'

जीवन की सुन्दर वस्तुयें ही तुम्हारी नहीं है—खराब वस्तुयें भी तुम्हारी हैं। जब संकटों तथा दुखों से तुम घिर जाते हो, जब असफलता होती है और मित्रगण किनारा कसते हैं; जब मधुरभासी जिह्वायें भी कटुता के साथ दोषारोपण करने लगती हैं, जब तुम्हारे असहाय काल में वे ओष्ठ तुम्हें उपहासित तथा निर्भत्सित करने लगते हैं, जो कभी स्निग्ध एवं मृदुल चुम्बनों से तुम्हारे ओष्ठों का चुम्बन किया करते थे; जब तुम दुःखित तथा उदासीन मिट्टी की ऐसी मंजूषा के नीचे पड़े रहते हो, जिसमें पड़ने पर पहले तुम्हारी स्त्री तुम्हारे साथ सहानुभूति दिखाती थी—जब ये घटनायें घटित हों, तब समझ लो तुम्हारे कुदिन आ गये, तुम्हें दुःख का प्याला गले के नीचे उतारना है। चुपचाप इसे पी जाओ। चूँ तक मत करो। क्योंकि उस पीड़ा वह अन्धकार में तथा अन्धकारी पीड़ा में कोई भी प्रार्थना काम न देगी, तुम्हारे किसी भी पुकार की सुनवाई दैवी दरबार में न होगी। परन्तु श्रद्धा और धैर्य तुम्हें सहन-शक्ति प्रदान करेंगी।

इनकी सहायता में तुम दुःख को अपना ही समझोगे, इसके लिये न तो किसी की शिकायत करोगे, और न किसी को दोषी ठहराओगे; नम्र तथा शान्त भाव से दुःख की घड़ियों को पार कर जाओगे।

जब मनुष्य दुःख के निकृष्टतम तह तक चला जाता है; निर्बल, गलित तथा शक्तिहीनता के भाव से विजित हो जाता है, ईश्वर को सहायतार्थ पुकारता है। परन्तु इसके प्रत्युत्तर में सुख तथा सहायता उसे नहीं मिलती—तब शोक के दुःखत्व तथा प्रार्थना के असहायत्व को देखकर वह आत्मत्याग के मार्ग पर बढ़ता है। हृदय-शुद्धि के निमित्त आत्म-संयम करने के लिये, आध्यात्मिक योद्धा बनने के लिये और आत्म-विजय-जन्य अजेय तथा दैवी शक्तिके उत्पादनार्थ कटिबद्ध हो जाता है।

वह दुःख के कारण को अपने ही में पायेगा और उसे दूर करेगा। वह स्वावलम्बी बनना सीखेगा। वह किसी से सहानुभूति नहीं चाहेगा, प्रत्युत दूसरों के साथ सहानुभूति प्रकट करेगा। न तो वह मूर्खतापूर्ण पाप

करेगा और न पश्चात्ताप करते हुए पछतायेगा। वह तो पाप से बचने की फिक्र में रहेगा। अगणित असफलताओं द्वारा अपमानित, अनेक संकटों से विताड़ित, वह इस चिन्ता में रहेगा कि दूसरों के प्रति वह कैसे निर्दोषतापूर्ण बर्ताव करे, कैसे सौम्य तथा बलवान बने, कैसे दयालु और दृढ़ बने और कैसे बुद्धिमान तथा कृपालु हो।

इसप्रकार क्रमशः वह दुःखाकुलित हो जायेगा और अन्त में उसका मस्तिष्क सत्य-प्रकाश से प्रकाशित हो उठेगा। तब स्थायी शान्ति का अर्थ उसकी समझ में आयेगा। विश्व का नियम देखने के लिये उसका ज्ञान-चक्षु खुल जायेगा। 'नियम' के दर्शन से वह कृत-कृत्य हो जायेगा। और उसे समाधि के सुखद आनन्द की प्राप्ति होगी।

जब वस्तुओं की सच्ची व्यवस्था समझ में आ जाती है, दुख का अन्त हो जाता है। जब सङ्कुचित 'अपनापन, जो क्षणस्थायी वैयक्तिक आनन्दों में लिपटा रहता है, और अपनी तुच्छ निराशाओं और असन्तुष्टताओं पर

मनन किया करता है, विताड़ित करके फेंक दिया जाता है, तब वह सुख और शान्ति के साथ सत्यमय जीवन में प्रवेश करता है। तब विश्वव्याप्त 'इच्छा' 'अपनेपन' का ख्याल ग्रहण करती है। व्यक्तित्व मानव-जाति में लीन हो जाता है। विश्व-प्रेम में वह अपनेपन को भूल जाता है। सत्य-जन्य आनन्द में उसका दुःख समा जाता है।

इसप्रकार जब अनुभव द्वारा, तुम उस दुःख में प्रविष्ट हो जाते हो, जिसमें मानव-हृदय कभी छुटकारा नहीं पाता, जब अपने दुर्विचार तथा दुष्कर्मों के कटु फल का भोग तुम कर चुकते हो, तब सम्पूर्ण दुखित प्राणियों के हितार्थ दैवी अनुकम्पा तुम्हारे हृदय में उदित होगी। वह तुम्हारे सब जख्मों को अच्छा कर देगी, तुम्हारे आसुओं को सुखा देगी। तुम एक नवीन दैवी जीवन में प्रवेश करोगे, जहाँ पर दुःख का प्रवेश नहीं, क्योंकि 'स्वार्थ' की उपस्थित वहाँ है ही नहीं। कठिन दुःख के पश्चात् रूपान्तर होता है। दुःखहीन अवस्था दुःख द्वारा मिलती है। और "ज्ञानी जन

शोकित नहीं होते"।

इसे सदैव स्मरण रक्खो—पाप और दुःख के मध्य में सत्य का संसार स्थित है। मुक्ति अति निकट है। दुखित को शान्ति और अपवित्र को पवित्रता पाने की सम्भावना है। प्रशस्तता भग्न-हृदय की प्रतीक्षा करती है। निर्बल बल-विभूषित होगा और पददलित उच्च बनकर परम-पद को प्राप्त करेगा।

# जीवन-परिवर्तनों पर प्रकाश

निम्नस्थल से उच्च स्थल पर और उच्च से उच्चतर स्थल पर बैठने के लिये वस्तुओं का स्वभाव विश्व-व्यापक है। संसार की स्थिति ही इसलिये है कि प्राणी अनुभव प्राप्त करे, अनुभव करके सूक्ष्म-बुद्धि प्राप्त करे और ज्ञान की वृद्धि करे।

विकाश उन्नति का दूसरा पर्याय शब्द है। यह अनन्त सहेतु तथा उन्नतिपूर्ण परिवर्तन सूचित करता है। विभिन्न प्रकार के प्राणी से किसी नवीन प्राणी की रचना का नाम

विकाश नहीं। इसका अर्थ है—परिवर्तन तथा अनुभव द्वारा प्राणियों का रूपान्तर करना। ऐसे ही रूपान्तर को उन्नति कहते हैं।

परिवर्तन की वास्तविकता सदैव हमारे समक्ष है। इससे कोई बच नहीं सकता। वृक्ष, पशु और मनुष्य उत्पन्न होते, बढ़ते और मरते रहते हैं। तेजस्वी सूर्य भी अपने परिचर लोकों के साथ निस्सीमित आकाश में चक्कर लगाता हुआ (यद्यपि उनके जीवन काल की गणना लाखों वर्ष में की जाती है) अन्त में अप्रसन्न होकर अगणित परिवर्तनों के पश्चात् नष्टभ्रष्ट हो जाता है। हम किसी वस्तु या प्राणी के सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि 'यह अपनी वर्तमान अवस्था में सदैव स्थिर रहेगा।' क्योंकि इतना करने भर में वह प्राणी या वस्तु विकृत होता होगा।

विषाद और दुःख विकार के सहगामी होते हैं। प्राणी-वियुक्त वस्तुओं के लिये हम अफसोस करते हैं—और उन वस्तुओं के लिये जो नष्ट एवं गत हो जाती हैं। फिर भी वास्तव में विकार अच्छा है। क्योंकि सब

निर्दोषिता, उन्नति तथा सिद्धि तक पहुँचाने के लिये यह अनावृत द्वार है।

मन एवं द्रव्य सभी उसी विकार के दास हैं। प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक विचार और प्रत्येक कर्म मनुष्य को विकृत करते रहते हैं। वृद्ध मनुष्य के बाल्यावस्था और तरुणावस्था में कुछ भी सादृश्य नहीं।

अनन्तकाल से स्थिर और अविकार्य प्राणी अज्ञात है। ऐसे प्राणी की कल्पना की जा सकती है—किन्तु यह केवल आधारमात्र है। यह मानव-जाति के अनुभव तथा ज्ञान की सीमा के बाहर है। अपरिवर्तनीय प्राणी उन्नति-विमुख होगा।

एक उपदेश अथवा शिक्षा है। उसके अनुसार मनुष्य के पास एक दैवी आत्मा है, जो अनन्त काल से शुद्ध, अविकार्य, और निर्दोष है। पापी, दुःखी और विकृत मनुष्य जैसा कि हम उसे देखते हैं, एक माया-मात्र है—और वास्तव में दैवी आत्मा ही मनुष्य है और अन्य सब मिथ्या। एक दूसरे उपदेश के अनुसार मनुष्य अनन्त काल से दोषयुक्त है, निष्कलङ्क शुद्धता की प्राप्ति कभी

सम्भव नहीं और निर्दोषिता असम्भव है, एक माया है।

यह सर्व विदित होगा कि मानव अनुभव से इन दोनों पराकाष्ठाओं का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। वे मीमांसात्मक आध्यात्मविद्या से सम्बन्ध रखते हैं—जिनका जीवन के वास्तविकताओं के साथ घोर विरोध है। यह विरोध यहाँ तक बढ़ गया है कि इन दोनों मतों के मानने वाले जीवन के दिन प्रतिदिन अनुभव-जन्य वास्तविकताओं को भी स्वीकार नहीं करते। कल्पित वस्तुयें वास्तविक समझी जाती हैं—जीवन की वास्तविकतायें मिथ्या करार दी जाती हैं।

इन दोनों पराकाष्ठाओं का त्याग करके मानव-अनुभव द्वारा निर्धारित मध्य मार्ग ग्रहण करना अच्छा है। अपने तथा दूसरों के मतों और मीमाँसाओं का त्याग अच्छा है, जीवन की वास्तविकताओं की ओर देखना अच्छा है। हम देखते हैं कि मनुष्य उत्पन्न होता, बढ़ता और वृद्ध होता है; पाप, दुःख और मृत्यु का अनुभव करता है। वह चिन्ता करता है, दुःखी होता है, आकाँक्षा करता है, हर्षित होता है और

सदैव अधिकाधिक शुद्धता तथा पूर्णता के लिये यत्नशील रहता है—ये सब मत नहीं, मीमांसा नहीं, आध्यात्मवाद नहीं—ये तो विश्वव्यापक वास्तविकतायें हैं।

यदि मनुष्य पहिले से ही निर्दोष हो, तो उसे निर्दोष बनने की कोई आवश्यकता ही न रह जाय, और सब नैतिक शिक्षा व्यर्थ तथा उपहास्य हो जायँ। अपरञ्च निर्दोष व्यक्ति माया और मिथ्या का दास भी नहीं हो सकता।

हम अपने चारो ओर पाप, शोक तथा दुःख पाते हैं। और अपने समक्ष ही महात्माओं के जीवन को पापरहित, शोकरहित तथा सुखमय अवस्था में पाते हैं। अतः हमलोग जानते हैं कि मनुष्य दोष-युक्त नहीं तथापि वह प्रकर्ष के योग्य है और प्रकर्ष उसके लिये निर्दिष्ट भी है। जिस दैवी स्थिति की वह आकांक्षा करता है उसे वह प्राप्त होगी। इसके लिये उसकी उत्कट अभिलाषा यह सूचित करती है कि अनेक पहुँचे हुये फकीरों का आदर्शवाद उसके समक्ष न होते हुये भी वह उसे पा सकता है।

एक वास्तविक और दोषरहित दूसरा मिथ्या और सदोष, मनुष्य इन दो वस्तुओं का योग नहीं—वह एक है और वास्तविक है। उसके अनुभव सत्य हैं। उसके दोष प्रकट हैं, उसकी उन्नति और बुद्धि भी प्रकट है।

आध्यात्मविद्या की उपस्थिति में भी जीवन की वास्तविकतायें मनुष्य को अपनी तरफ खींचती है; और सब परिवर्तन तथा उन्नति एक ही नियम के अन्दर आ जाते हैं। जो लोग मनुष्य जाति को अनन्तकाल से पापमुक्त तथा पूर्ण मानते हैं तो उन्हें सतर्क और संयुक्त होने के लिये कभी पाप, दोष रोग और मौत का भी नाम न लेना चाहिये। तथापि वह उनकी तरफ आचरणीय वस्तुओं की भाँति निर्देष करता है। इस प्रकार सिद्धान्तरूप में वह उसी वस्तु को स्थिति का खण्डन करता है, जिसको व्यवहार में वह अभ्यास रूप से स्वीकार करता है।

सिद्धान्तवादी होने से वह अनिवार्य वस्तु से छुटकारा नहीं पा सकता। रोग, वृद्धावस्था, और मृत्यु आदि मिथ्याओं के प्रतिपादक अन्त में मृत्यु-जाल में

फँस जाते हैं, वृद्धावस्था के वश में हो जाते हैं और मृत्यु की गोद में विलुप्त हो जाते हैं।

परिवर्तन केवल अनिवार्य ही नहीं है, यह एक स्थिर और अविकार्य नियम है। इसके बिना प्रत्येक वस्तु अपनी वर्तमान अवस्था ही में रह जायगी। उत्कर्ष और वृद्धि सदैव के लिये रुक जायगी।

जीवन का विकट संग्राम निर्दोषता का सूचक है। प्रकृष्ट स्थानों का अवलोकन अनवरत उन्नति के प्रमाण हैं। उच्चाकाँक्षायें, आदर्श, नैतिक आदर्श, मनुष्य की निर्दोषिता सूचित करते हुए, वास्तव में उसके आगामी प्रकर्ष की ओर निर्देष करते हैं। वे न तो अनावश्यक हैं और न तत्वरहित, परन्तु वे वस्तु-पट में बिने हुए हैं। वे संसार के जीवन-मूलक तत्व से सम्बन्ध रखते हैं।

मनुष्य चाहे किसी चीज का विश्वास करे अथवा न करे, किसी सिद्धान्त को वह मानता हो अथवा नहीं, परन्तु यह निश्चय है कि वह जीवन-लहरी में पड़ा है। विचार करना और कार्य करना उसका परम कर्तव्य

है। अनुभव करना तो विकार और उत्कर्ष का लक्षण है।

मनुष्य अपने पाप के प्रति चैतन्य है—इसका अर्थ यही हुआ कि वह शुद्ध हो सकता है। वह पाप से घृणा करता है, इस बात की सूचना है कि वह परमात्मा तक पहुँच सकता है। दोष-स्थल में वह एक पथिक है, हमें विश्वास देता है कि निःसन्देह वह सत्य के सुन्दर नगर में पहुँच जायेगा।

# अनित्यत्व की वास्तविकता

अनित्यत्व की वास्तविकता पर भी कभी कभी गम्भीरता तथा ध्यानपूर्वक चिन्तन करना अच्छा है। ध्यान करने से यह बात प्रकट हो जायेगी कि कैसे सब संयुक्त वस्तुओं का नष्ट होना अनिवार्य है। यही नहीं, हमें यह भी मालूम होगा कि कैसे वर्तमान रहते हुये वे वस्तुयें विनाशशील हो रही हैं। इसप्रकार का चिन्तन हृदय को कोमल, बुद्धि को गम्भीर बनायेगा, और जीवन के पवित्र स्वभाव से अधिकाधिक परिचय बढ़ायेगा।

"कल यह वस्तु मेरी होगी" मनुष्य जिस वस्तु के लिये यह कहता है, वैसी कितनी ऐसी वस्तुयें है जिनमें से एक भी नष्ट नहीं होतीं ? मन भी दिन प्रतिदिन विकृत होता रहता है। प्राचीन गुण नम्र होकर उड़ जाते हैं, और नये आते हैं। जीवन में सभी वस्तुयें नष्ट हो रही हैं। कुछ भी स्थायी नहीं। कोई वस्तु रोकी नहीं जा सकती। वस्तुयें प्रकट होती हैं, फिर गायब हो जाती हैं, वे पैदा होती हैं, फिर गुजर जाती है।

प्राचीन ऋषियों ने संसार को माया कहा है—इससे उनका अर्थ यही था कि क्षणभङ्गुरता वास्तविकता के विरुद्ध है। परिवर्तन और नाश तो दृश्यमान वस्तुओं का स्वभाव ही है। और वे इसी अर्थ में अनित्य हैं—माया हैं—कि वे सदैव के लिये हो जाती हैं।

जो वास्तविकता के लोक में आरोहण करना चाहते हैं, जो सत्यलोक में प्रवेश करना चाहते हैं, उनका यह परम कर्तव्य है कि वे ध्यानपूर्वक जीवन सम्बन्धी वस्तुओं के नाशवान स्वभाव को अच्छी तरह समझ लें। वे अपने को इस भ्रम से मुक्त कर लें कि उनका

अधिकार स्वास्थ्य, शरीर, सुख और दुख पहुँचाने वाले विषयों पर सदैव रहेगा। क्योंकि जैसे पुष्प मुर्भाते और वृक्षपत्र पतित होकर सूख जाते हैं, उसी तरह ये वस्तुयें भी अपना समय पाने पर सदैव के लिये विदा हो जायेगीं।

क्षणभंगुरता की सत्यता ज्ञान-प्राप्ति का प्रथम पदन्यास है। क्योंकि इसे अच्छी तरह समझ कर हृदयङ्गम कर लेने पर विनयशील वस्तुओं में आसक्ति, जो हमारे सब दुःखों की मूल कारण है—इससे दूर हो जायगी और स्थायी सत्य की जिज्ञासा उत्कट हो उठेगी।

क्षणस्थायी वस्तुओं के प्राप्ति की उत्कट इच्छा ही, हमारे मनस्ताप को प्रभूत बनाने का कारण है। क्योंकि वे ऐसी वस्तुओं की लालसा करते हैं जो प्राप्त हो जाने पर भी बहुत काल तक अधिकार में नहीं रक्खी जा सकतीं।

कोई भी दुःख ऐसा नहीं है जो नश्वर वस्तुओं में विरक्त होते ही भाग न जाय। कोई भी ऐसी चिन्ता

नहीं जो नाशिष्णु स्वभाव के पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा को हृदय से निमूंल कर देने पर हमसे विलग न हो जायँ।

आज लाखों शोक-सन्तप्त हृदय उन प्रिय वस्तुओं की हानि अथवा नाश पर विलाप कर रहे हैं, जिन्हें कि पहिले वे अपनी समझते थे। उन वस्तुओं के लिये करुण-क्रन्दन कर रहे हैं जो सदैव के लिये गत हो गयीं और पुनः मिल नहीं सकतीं।

अनुभवजन्य शिक्षा-ग्रहण तथा ज्ञान-प्राप्ति में मनुष्य आलसी है, और अगणित शोक, सन्ताप और चिन्तायें नश्वरता की सत्यता को मानव-मस्तिष्क में अङ्कित नहीं कर सकती हैं। नश्वर वस्तुओं में आसक्ति रखने वाला दुःख से कभी बच नहीं सकता। प्रेम की घनिष्टता, उसके शोक के तीव्रता की मापदण्ड होगी। मनुष्य जितना अधिक प्रेम भौतिक वस्तुओं से करता है, वह उतना ही अधिक शोक-शंकु अपने हृदय में ठोंकता है। विनाशशील वस्तुओं से प्रेम करके मनुष्य परिवेदना तथा संताप के साहचर्य का मानो स्वागत करता है।

मनुष्य ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वे विषयासक्ति का त्याग नहीं करेंगे—क्योंकि उनका यह विश्वास है कि विषयासक्ति सुखका न कि दुःख का उद्गम स्थान है। वे अशान्ति का त्याग कर शान्तिमय जीवन में प्रवेश नहीं कर सकते। क्योंकि तत्कालिक तथा क्षणिक तृप्त कामना-जन्य आनन्द स्थायी मान लिया जाता है।

वस्तुओं की व्यवस्था अच्छी तरह न समझने के कारण शोक विश्व-व्यापक हो गया है। वस्तुओं के क्षण-भंगुर स्वभाव की अज्ञानता ही दुःख का मूल कारण है।

नाशवान वस्तुओं को लेने और उन्हें सुरक्षित रखने की लालसा हृदय से निकाल देने पर शोक-शंकु हृदय से निकल जायगा।

तत्व ज्ञानियों के लिये शोक नहीं, जो क्षणस्थायी वस्तुओं के स्वभाव का अनुभव करके उन वस्तुओं से अपने हृदय और मन को विरक्त कर लेता है।

नश्वर वस्तुओं के लिये यथार्थ प्रयोगविधि है। जब

उनका प्रयोग अच्छी तरह होता है, और उसमें आसक्ति नहीं की जाती तो उनके नाश से कोई दुःख न होगा।

यदि कोई धनाढ्य अपने मन में सोचता है कि 'मेरे द्रव्य और अधिकार मुझसे सम्बन्ध नहीं रखते और न तो उन्हें मैं अपना ही कह सकता हूँ। क्योंकि जिस समय इस (असार) संसार से कूँच करने के लिये मेरे नाम सम्मन कटेगा, मैं उनको अपने साथ न ले जा सकूँगा। उचित प्रयोग के लिये ही वे मुझे दिये गये हैं और यथाशक्ति विश्व तथा मानव जाति के हितार्थ में उनका उपयोग करूँगा।' ऐसा व्यक्ति भोग-विलास की सामग्रियों और उत्तरदायित्व से लदे रहने पर भी दुःखातीत हो जायेगा, और वह सत्य के सन्निकट जा पहुँचेगा। यदि अकिंचन जन धन की तथा अधिकारों की लालसा नहीं करता तो उसकी परिस्थिति के कारण उसे अशान्ति एवं चिन्ता न होगी।

जो जीवन को स्वार्थपूर्ण आसक्ति तथा वासनाओं से मुक्त कर लेता है, जो प्रत्येक वस्तु का प्रयोग बुद्धिमानी से उचित स्थान देखकर करता है, जो शुद्ध हृदय होकर

अपने मन को लोलुप कामनाओं से मुक्त करके सब परिवर्तनों के मध्य में भी शान्त एवं आत्म-सन्तुष्ट रहता है— ऐसे व्यक्ति को सत्य की प्राप्ति होगी, वह वास्तविकता का सामना अवश्य करेगा।

सब दोषों के मध्य में सत्य का निवास स्थल है। अनित्य के हृदयस्थल में नित्य वास करता है। माया भी, नित्य तथा अविकार्य सत्य के ऊपर एक पर्दा ही है।

सत्य क्या है, इसका स्पष्टीकरण करने यहाँ मैं नहीं जा रहा हूँ। इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रेम, दया, ज्ञान और संशुद्धि से सम्बन्ध न रखने वाली वस्तुओं को हृदय से विलग करने पर ही सत्य की प्राप्ति हो सकती है। इन वस्तुओं में नश्वरता, शोक और अशान्ति का नामोनिशान तक नहीं।

जब अनित्यत्व की सत्यता अच्छी तरह समझ में आ जाती है, और जब तद्गत शिक्षा हृदयङ्गम कर ली जाती है, तब मनुष्य स्थायी सत्य की खोज में चलता है। तब वह अपने हृदय को को उन स्वार्थमय तत्वों से विलग करता है जो दुःखमूलक हैं।

जिसके लिये सत्य ही कोष है, जो अपने जीवन को सत्य-मार्ग में लगाता है उसे नित्य आनन्द की प्राप्ति होगी। वह शोकाकुल देश को पीछे छोड़कर माया के अपार समुद्र को पार करता हुआ शोक-रहित तट पर जा पहुँचेगा।

# नित्य-स्थायी प्रकाश

अनेक मतों तथा सिद्धान्तों के मध्य में, जीवन संग्राम में फँसा हुआ क्षुब्ध जिज्ञासु अनन्त-शान्तिप्रद मार्ग की खोज में किधर जाय ? परिवर्तन-जन्य दुःखों तथा संशयों को छोड़ किसकी शरण वह ले ?

क्या आमोद-प्रमोद उसके लिये शान्तिप्रद होगा ? आनन्द के लिये भी स्थान है, अपने स्थान में यह भी अच्छा है; परन्तु साध्य वस्तु की अथवा आश्रय स्थान की दृष्टि से देखने पर यह शरणदाता नहीं; और जो इसकी खोज इस अर्थ से करे तो वह केवल जीवन के

सन्ताप की वृद्धि करता है। क्योंकि आनन्द से अधिक स्थायी क्या है ? और जो ऐसी नश्वर वस्तु से सन्तुष्ट होने की इच्छा करता है उससे अधिक मूर्ख और कौन होगा ?

क्या द्रव्य और सांसारिक सफलता उसे शान्ति-प्रदान करेगी ? द्रव्य और सांसारिक सफलतायें भी अपना स्थान रखती हैं; परन्तु उनका अधिकार चञ्चल तथा अनिश्चित है और जो उन्हें अपने लिये ही चाहता है वह अनेक शोक तथा चिन्ताओं का भार अपने ऊपर लादता है, और जब दुर्दिन का झोंका उसके दीप्यमान किन्तु निर्बल वासगृह पर आयेगा—वह अपने को असहाय और निराधार पायेगा। परन्तु यदि मान लें कि ये सब अधिकार उसके जीवनपर्यन्त स्थायी रहेंगे तो मृत्युकाल में उनसे क्या सन्तोष मिलेगा ? द्रव्य और सांसारिक सफलताओं में स्थायी आश्रय नहीं।

क्या सुन्दर स्वास्थ्य उसको शान्ति दे सकेगा ? स्वास्थ्य के लिये भी स्थान है, यह उपेक्षणीय अथवा घृणास्पद नहीं है।

परन्तु यह नश्वर शरीर से सम्बन्धित होने के कारण क्षणभङ्गुर है। यदि स्वास्थ्य शत वर्ष पर्यन्त रक्खा भी जाय तो वह समय आवेगा जब शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होकर दौर्बल्य तथा काल के गाल में चली जायँगी। उनमें भी स्थायी विश्राम नहीं।

क्या उसके प्रेमी जन उसे शान्ति देंगे ? प्रेमी जनों के लिये भी स्थान विशेष है। वे स्वार्थत्याग करने के लिये भी अभ्यास और परिणामतः सत्य तक पहुँचने के लिये साधनमात्र हैं। यह उसका कर्तव्य है कि वह उन लोगों के साथ प्रेमयुक्त स्नेह करे। परन्तु वह समय आयेगा जब वे भी उनसे विमुक्त हो जायेंगे और वह अकेला छूट जायेगा। प्रेमी जन भी स्थायी शरण नहीं दे सकते।

क्या शास्त्र उसके लिये शान्ति-प्रद होंगे ? शास्त्रों के लिये भी उचित स्थान है। सहायक की दृष्टि से ये अच्छे हैं, परन्तु ये साध्य नहीं हो सकते। क्योंकि शास्त्रज्ञ होते हुये भी कोई अत्यन्त अशान्त और संक्षुब्ध हो सकता है। मनुष्यों के सिद्धान्त

क्रमिक परिवर्तनों के अन्तर्गत हैं। और सन्दर्भ विषयक व्याख्याओं की विभिन्नताओं का अन्त नहीं। अतः शास्त्र भी शान्तिप्रद नहीं।

क्या गुरुजन उसे विश्रान्ति दे सकेंगे ? गुरुजनों के लिये भी स्थान निश्चित है। शिक्षक की हैसियत से वे अच्छी सहायता करते हैं—परन्तु गुरु अगणित हैं और उनमें बहुत मतभेद है। यद्यपि कोई अपने गुरू को सत्य का जानने वाला मान सकता है परन्तु वह गुरू भी उससे एक न एक दिन अलग हो जायगा। इसलिये वह भी स्थायी विश्राम-स्थल नहीं।

क्या एकान्त में उसे शान्ति मिलेगी ? एकान्त भी अपने उचित स्थान पर अच्छा एवं आवश्यक है। परन्तु सदैव के लिये इसकी इच्छा करने वाले की दशा जलरहित मरुदेश में पड़े हुए प्यासे मनुष्य की भाँति होगी। वह मनुष्य शहर के कोलाहल से तो विमुक्त हो जायगा, परन्तु वह अपनी स्वार्थपूर्ण वासनाओं तथा अपने हृदय की अशान्ति से मुक्त नहीं हो सकता। अतः निर्जन स्थान भी शान्ति-प्रद नहीं।

जब जिज्ञासु लौकिक आनन्द, लौकिक सफलता, स्वास्थ्य, मित्र, शास्त्र, गुरु और निर्जन स्थान आदि में शान्ति नहीं पा सकता तो फिर वह उस पवित्र स्थान की खोज में किधर जाय जहाँ उसे शान्ति मिलेगी !

वह धर्म तथा सदाचार की शरण में जाय। वह शुद्ध-हृदय की पुण्य भूमि में शरण ले। वह दोष-रहित, निष्कलङ्क जीवन-मार्ग में प्रवेश करे। धैर्य तथा नम्रता के साथ उसमें भ्रमण करता रहे, जबतक कि निज हृदयस्थ सत्य के मन्दिर में प्रवेश नहीं कर जाता !

सत्य का, ज्ञानयुक्त सुन्दर विचार-स्थल का, स्थिर तथा प्रेमी हृदय का आश्रय लेनेवाला सुख तथा दुःख में, ऐश्वर्य अथवा दरिद्रता में, जय अथवा पराजयमें, रोग अथवा निरोगमें, मित्र के संयोग अथवा वियोग में, एकान्त में अथवा महास्वनित स्थान में—सब अवस्था में समभाव रहता है। वह गुरुजनों अथवा शास्त्रों से स्वतन्त्र रहता है। क्योंकि सत्यरूपी आत्मा ही उसका शिक्षक है। वह बिना भय और शोक के सर्व वस्तु स्थित विकार

और नाश को देखता है। उसे शान्ति मिल गयी है। वह स्थायी पवित्र-भूमि में प्रवेश कर चुका है। वह उस प्रकाश को जानता है जो नित्य स्थायी है !

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

# माला की प्रकाशित पुस्तकें

## जीवन चरित्र

२॥) वीर दुर्गादास राठौर

२) झाँसी की रानी

१।) अमरसिंह राठौर

१।) सम्राट् अशोक

१।) प्रतापी आल्हा और ऊदल

१) वीर मराठा

१) छत्रपति शिवाजी

१) महाराणा प्रताप

१॥) मेवाड़ का इतिहास

१।) देश के दुलारे

## उपन्यास

३) विप्लवी वीरांगना

१॥) जीवन का शाप

१॥) मायावी संसार

१॥) नदी में लाश

१।॥) हाहाकार

१॥।) अपराधिनी

१।) प्यासी तलवार

१॥) प्रेम के आँसू

१) होटल में खून

१) मजदूर का दिल

१) प्रेम का पुजारी

१॥।) रहम-दिल डाकू

## हास्यरस

१।) महाकवि साँड़

१) पानी पांड़े

१) गुरु घंटाल

१) मिस्टर तिवारी का टेलीफोन

१) लेखक की बीवी

## नवयुवकोपयोगी

१) सफलता के सात साधन

॥।) शान्ति की ओर

५) उपनिषद्-समुच्चय

१) हमारा जीवन सफल कैसे हो!

१॥) स्वास्थ्य और व्यायाम

चौधरी एण्ड सन्स
पुस्तक विक्रेता तथा प्रकाशक
बनारस सिटी